

Chapter एक

महाराज प्रियव्रत का चरित्र

इस अध्याय में बताया गया है कि राजा प्रियव्रत किस प्रकार से राजसी ऐश्वर्य तथा वैभव भोग कर पुनः पूर्ण ज्ञान को परावृत हुए। राजा प्रियव्रत पहले सांसारिक ऐश्वर्य से विरक्त थे और बाद में अपने राज्य के प्रति आसक्त हो गए, किन्तु अन्त में वे पुनः भौतिक सुख से विरक्त हो गये और इस प्रकार से उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जब राजा परीक्षित ने यह सुना, तो वे आश्चर्य से स्तब्ध रह गये, किन्तु साथ ही वे कुछ मोहग्रस्त भी हुए कि भौतिक सुख (भुक्ति) से विरक्त रहने वाला एक भक्त किस प्रकार बाद में इसमें आसक्त हो गया। इस प्रकार विस्मित होकर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से इसके विषय में प्रश्न किया।

राजा के पूछने पर शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि भक्तियोग दिव्य होने के कारण किसी भौतिक प्रभाव से विचलित नहीं हो सकता। प्रियव्रत को यह दिव्य ज्ञान नारद के उपदेशों से प्राप्त हुआ था, अतः वे राज्य का सुखोपभोग करने के लिए, भौतिक जीवन में प्रवेश करने के इच्छुक नहीं थे। किन्तु ब्रह्माजी तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र जैसे उच्च देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने राज-पाट स्वीकार कर लिया।

प्रत्येक वस्तु परम नियन्ता भगवान् के वश में है, अतः प्रत्येक प्राणी को उनके अनुसार कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार से बैल को नथ से बंधी रस्सी द्वारा वश में रखा जाता है वैसे ही समस्त बद्ध जीवात्माएँ प्रकृति-गुणों के अधीन कार्य करने के लिए वशीभूत हैं। अतः सभ्य मनुष्य वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य करता है। यहाँ तक कि किसी को भौतिक जीवन में भी कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट प्रकार की देह ग्रहण करनी पड़ती है और उसी के अनुसार उसे नाना प्रकार के सुख-दुख उठाने पड़ते हैं। अतः यदि कोई बनावटी ढंग से भी गृह-त्याग करके वन चला जाता है, तो वह पुनः भौतिक जीवन में लिप्त हो जाता है। इन्द्रियों को वश करने के लिए गृहस्थजीवन एक दुर्ग के समान है। इन्द्रियों को वश में कर लेने के बाद चाहे कोई घर में रहे या वन में, कोई अन्तर नहीं पड़ता।

जब महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए राज-सिंहासन स्वीकार कर लिया, तो उनके पिता मनु गृह-त्याग कर वन चले गये। उसके पश्चात् प्रियव्रत ने विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया। बर्हिष्मती के गर्भ से उनके दस पुत्र हुए जिनके नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। उनसे एक कन्या भी जन्मी जिसका नाम ऊर्जस्वती था। महाराज प्रियव्रत अपनी पत्नी तथा परिवार के साथ कई हजार वर्षों तक जीवित रहे। महाराज प्रियव्रत के रथ के पहियों की खाँच से सात समुद्र तथा सात द्वीप उत्पन्न हुए। प्रियव्रत के दस पुत्रों में से तीन ने संन्यास ग्रहण कर लिया। इनके नाम थे—कवि, महावीर तथा सवन। शेष सात पुत्र सात द्वीपों के राजा हुए। महाराज प्रियव्रत के दूसरी पत्नी भी थी जिससे उत्तम, रैवत तथा तामस नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इन सबों ने मनु की पदवी प्राप्त की। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि महाराज प्रियव्रत ने किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की।

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।

गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; प्रिय-व्रतः—राजा प्रियव्रत; भागवतः—परमभक्त; आत्म-आरामः—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखनेवाला; कथम्—क्यों; मुने—हे मुनि; गृहे—घर पर; अरमत—भोग किया; यत्-मूलः—जिसे मूल कारण मानते हुए; कर्म-बन्धः—सकाम कर्मों का बन्धन; पराभवः—उद्देश्य की पराजय।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनिवर, परम आत्मदर्शी भगवद्भक्त राजा प्रियव्रत ने ऐसे गृहस्थ जीवन में रहना क्यों पसन्द किया, जो कर्म-बन्धन (सकाम कर्म) का मूल कारण तथा मानव जीवन के उद्देश्य को पराजित करने वाला है?

तात्पर्य : भागवत के चतुर्थ स्कंध में श्रील शुकदेव गोस्वामी ने बताया है कि नारद मुनि ने प्रियव्रत को मानव जीवन के उद्देश्य के विषय में पूर्णतया उपदिष्ट किया था। मानव जीवन का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् क्रमशः भगवान् के धाम को वापस जाना है। जब नारद मुनि राजा को इस सम्बन्ध में पूर्णतया उपदेश दे चुके थे, तो फिर उन्होंने भवबन्धन के मूल कारण गृहस्थजीवन में पुनः प्रवेश क्यों किया? महाराज परीक्षित अत्यन्त विस्मित थे कि आत्म-साक्षात्कार करने वाले तथा भगवान् के प्रथम कोटि के भक्त राजा प्रियव्रत गृहस्थजीवन में कैसे रहे। भक्त को गृहस्थजीवन के लिए वस्तुतः

कोई आकर्षण नहीं होता, किन्तु आश्चर्य है कि राजा प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन का बहुत अधिक भोग किया। कोई यह तर्क कर सकता है कि गृहस्थजीवन का भोग क्यों अनुचित है? इसका उत्तर यह है कि गृहस्थजीवन में प्राणी सकाम कर्म के फल से बँध जाता है। गृहस्थजीवन का सार इन्द्रिय-सुख है और जब तक मनुष्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करने की दिशा में मन को लगाता रहता है, तब तक वह कर्म-फल से बँधा रहता है। आत्म-साक्षात्कार के प्रति ऐसी अनभिज्ञता ही मानव जीवन की सबसे बड़ी पराजय है। यह मनुष्य जीवन विशेषरूप से कर्मबन्धन से बाहर निकलने के लिए प्राप्त होता है, किन्तु जब तक मनुष्य जीवन के उद्देश्य को विस्मृत करता हुआ सामान्य पशु की तरह आचरण अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—करता है तब तक वह बद्ध जीवन में फंसा रहता है। ऐसा जीवन स्वरूप-विस्मृति अर्थात् अपनी वास्तविक वैधानिक स्थिति को भूलना कहलाता है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में जीवन का शुभारम्भ ब्रह्मचारी के रूप में होता था। ब्रह्मचारी का परम कर्तव्य होता था कि वह संयम का पालन करे और संभोग से विरत रहे। अतः यदि कोई ब्रह्मचर्य के नियमों में पूर्णतः प्रशिक्षित होता है, तो फिर वह गृहस्थजीवन में प्रवेश नहीं करता। तब वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है, जिसका अर्थ है पूर्ण ब्रह्मचर्य। इस प्रकार राजा परीक्षित आश्चर्यचकित थे कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के नियमों में प्रशिक्षित होकर भी महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थ आश्रम में क्यों प्रवेश किया?

इस श्लोक में *भागवत आत्मारामः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई भगवान् के ही समान आत्मतुष्ट होता है, तो उसे *भागवत आत्मारामः* कहा जाता है। तुष्टि कई प्रकार की होती है। कर्मीजन अपने सकाम कर्मों से, ज्ञानीजन ब्रह्मज्योति में मिल जाने तथा भक्तजन भगवान् की सेवा में तत्पर रहने से तुष्ट रहते हैं। भगवान् आत्मतुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे परम ऐश्वर्यवान् हैं और जो उनकी सेवा करने से संतुष्ट होता है, वह *भागवत आत्मारामः* कहलाता है। *मनुष्याणां सहस्रेषु*—हजारों पुरुषों में से कोई एक पुरुष मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और हजारों ऐसे प्रयत्न करने वाले पुरुषों में किसी एक को इस संसार की चिन्ताओं से मुक्ति मिल पाती है तथा वह आत्मतुष्ट हो पाता है। किन्तु यह तुष्टि भी अनन्तिम तुष्टि नहीं होती। ज्ञानी तथा कर्मी सकाम होते हैं और योगी भी, किन्तु भक्त निष्काम होते हैं। भगवान् की सेवा में जो तुष्टि होती है उसे *अकाम* कहते हैं और यही परम तुष्टि है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की कि जो परम पद पर रह कर पूर्ण तुष्ट रहा हो वह गृहस्थजीवन से कैसे तुष्ट हो सकता

था ?

इस श्लोक में आगत *पराभव* शब्द भी उल्लेखनीय है। जब कोई पुरुष गृहस्थजीवन में तुष्ट रहता है, तो वह अभागा होता है। क्योंकि ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका होता है। प्रह्लाद महाराज ने बताया है कि गृहस्थजीवन के कार्य-कलापों में मनुष्य किस प्रकार उलझता जाता है। *आत्मपातं गृहं अन्धकूपम्*—गृहस्थ जीवन अंधकूप के समान है। यदि कोई इस कूप में गिर जाता है, तो उसकी आत्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। अगले श्लोक में यह बताया गया है कि गृहस्थजीवन बिताते हुए भी महाराज प्रियव्रत किस प्रकार मुक्त परमहंस बने रहे।

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ ।

गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नूनम्—निश्चय ही; मुक्त-सङ्गानाम्—विरक्त; तादृशानाम्—ऐसे; द्विज-ऋषभ—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, विप्रवर; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; अभिनिवेशः—अत्यधिक अनुरक्ति; अयम्—यह; पुंसाम्—मनुष्यों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है।

भक्त-जन निश्चय ही मुक्त पुरुष होते हैं। अतः हे विप्रवर, वे सम्भवतः गृहकार्यों में दत्तचित्त नहीं रह सकते।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृतसिंधु* ग्रन्थ में कहा गया है कि मनुष्य ईश्वर की भक्ति करने से जीवात्मा की दिव्य स्थिति को तथा भगवान् को जान सकता है। भगवान् को जानने का एकमात्र उपाय भक्ति है। *श्रीमद्भागवत* (११.१४.२१) में इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् करते हैं। *भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः*—भक्ति के द्वारा ही मुझे जाना जा सकता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा मुझे समझा जा सकता है। अतः गृहस्थजीवन में लिप्त होना भक्त के लिए असम्भव है क्योंकि भक्त तथा उसके साथी मुक्त होते हैं। प्रत्येक प्राणी आनन्द की खोज में रहता है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भक्ति में सम्भव है। पारिवारिक कार्यों में अनुरक्ति तथा भक्ति में कोई मेल नहीं है। अतः महाराज परीक्षित को यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ कि महाराज प्रियव्रत भक्ति के साथ-साथ गृहस्थजीवन में भी अनुरक्त थे।

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः ।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

महताम्—परम भक्तों की; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे विप्रों में ऋषि; उत्तम-श्लोक-पादयोः—भगवान् के चरणकमलों की; छाया—छाया से; निर्वृत—तृप्त; चित्तानाम्—जिनकी चेतना; न—नहीं; कुटुम्बे—पारिवारिक सदस्यों पर; स्पृहा-मतिः—आसक्ति सहित चेतना।

जिन सिद्ध महात्माओं ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है वे उन चरणकमलों की छाया से पूर्णतया तृप्त हैं। उनकी चेतना कभी भी कुटुम्बीजनों में आसक्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*निताइ पद-कमल, कोटिचन्द्र सुशीतल, ये छायाय जगत जुड़ाय।* उन्होंने भगवान् नित्यानन्द के चरणकमलों की छाया को इतना शीतल तथा सुन्दर बताया है कि भौतिक कार्यों की अग्नि से सदैव संतप्त रहने वाले समस्त भौतिक वादी उन चरणकमलों की छाया में आकर पूरी-पूरी राहत पाते हैं और तृप्त हो जाते हैं। गृहस्थजीवन तथा आध्यात्मिक जीवन का अन्तर वही समझ सकता है, जिसने परिवार में रहकर कष्ट भोगे हैं। अतः जो एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण में पहुँच जाता है, वह फिर गृहस्थ जीवन के कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—अच्छा स्वाद चखने के पश्चात् मनुष्य निम्न कार्यों का त्याग कर देता है। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की शरण में आते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन से विरक्त हो जाता है।

संशयोऽयं महान्ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु ।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अयम्—यह; महान्—महान्; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; दार—स्त्री; आगार—घर; सुत—बच्चे; आदिषु—इत्यादि के प्रति; सक्तस्य—अनुरक्त पुरुष का; यत्—क्योंकि; सिद्धिः—सिद्धि; अभूत्—हो गया; कृष्णे—श्रीकृष्ण में; च—भी; मतिः—आसक्ति; अच्युता—अविचल।

राजा ने आगे पूछा, हे विप्रवर, मेरा सबसे बड़ा सन्देह यही है कि राजा प्रियव्रत जैसे व्यक्ति के लिए, जो अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर के प्रति इतने आसक्त थे, कृष्ण-भक्ति में सर्वोच्च अविचल सिद्धि प्राप्त कर पाना कैसे सम्भव हो सका?

तात्पर्य : राजा परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति पत्नी, बच्चों तथा घर के प्रति इतना अनुरक्त हो वह किस प्रकार परम कृष्णभक्त हो सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*मतिर्न कृष्णे*

परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्। एक गृहव्रत अर्थात् जिसने गृहकार्यों के पालन का व्रत ले रखा हो कभी कृष्णभक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकांश गृहव्रत इन्द्रियतुष्टि में लगे रहते हैं, अतः वे भौतिक जगत के अन्धतम स्थानों में गिर जाते हैं (अदान्त-गोभिर्विशतां तमिस्रम्)। भला ऐसे व्यक्ति कृष्णभक्ति में किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं? महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस सन्देह को दूर करने की प्रार्थना की।

श्रीशुक उवाच

बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवत
रमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; बाढम्—ठीक; उक्तम्—आपने जो कहा; भगवतः—भगवान् का; उत्तम-श्लोकस्य—जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों से की जाती है; श्रीमत्-चरण-अरविन्द—अत्यन्त सुन्दर सुरभित कमल पुष्पों के समान चरणों का; मकरन्द—मधु; रसे—अमृत में; आवेशित—डुबोया हुआ, सराबोर; चेतसः—जिनके हृदय; भागवत—भक्तों की; परमहंस—मुक्त पुरुष; दयित—रुचिकर, मनोहारी; कथाम्—यशोगान; किञ्चित्—कभी-कभी; अन्तराय—अवरोधों से; विहताम्—अवरुद्ध; स्वाम्—अपने; शिव-तमाम्—अत्यन्त शुभ; पदवीम्—पद को; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; हिन्वन्ति—त्यागते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—तुम्हारा कथन सही है। ब्रह्मा के समान सिद्ध पुरुषों के द्वारा दिव्य श्लोकों से प्रशंसित भगवान् की कीर्ति परम भक्तों तथा मुक्त पुरुषों के लिए अत्यन्त मनोहारी है। जो भगवान् के चरणकमलों के अमृततुल्य मधु में अनुरक्त है तथा जिसका मन सदैव उनकी कीर्ति में लीन रहता है, वह भले ही कभी कभी किसी बाधा से रुक जाये, किन्तु जिस परम पद को उसने प्राप्त किया है उसे वह कभी नहीं छोड़ता।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा के दोनों कथनों को स्वीकार किया—पहला तो यह कि जो व्यक्ति कृष्णभक्ति को प्राप्त है, वह पुनः भौतिक जीवन स्वीकार नहीं कर सकता और दूसरा यह कि जिसने एक बार भौतिक जीवन स्वीकार कर लिया है, वह कभी भी अपने जीवन में कृष्णभक्ति ग्रहण नहीं कर सकता—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इस दोनों कथनों को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु साथ ही यह स्पष्टीकरण दिया कि जिस व्यक्ति ने पहले भगवान् की कीर्ति मन से स्वीकार की है, वह कभी-कभी बाधाओं से प्रभावित हो सकता है, किन्तु तो भी वह अपनी उच्च भक्ति के पद को नहीं छोड़ पाता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भक्ति के मार्ग में दो प्रकार की बाधाएँ आती हैं। प्रथम, वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करना जिसे *वैष्णव अपराध* कहते हैं श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों को वैष्णव अपराध से बचने के लिए सतर्क किया है और इसकी तुलना प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध से की है। जब कोई प्रमत्त हाथी किसी सुन्दर उद्यान में घुस जाता है, तो वह प्रत्येक वस्तु को विनष्ट करके खेत को उजाड़ देता है। इसी प्रकार वैष्णव-अपराध की शक्ति इतनी प्रबल है कि बड़ा से बड़ा भक्त भी अपराध करने पर अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो देता है। चूँकि कृष्णभक्ति शाश्वत है, अतः इसे पूर्णतया विनष्ट नहीं किया जा सकता, किन्तु इसकी प्रगति को कुछ काल के लिए रोकना तो जा ही सकता है। इस प्रकार वैष्णव-अपराध भक्ति के मार्ग में पहली बाधा है। किन्तु कभी-कभी भगवान् या उनके भक्त अपनी किसी की भक्ति को जानबूझ कर अवरुद्ध करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष पूर्वजन्म में जय-विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे, किन्तु भगवदिच्छा से वे तीन जन्मों तक उनके शत्रु बने रहे। इस प्रकार भगवदिच्छा दूसरे प्रकार की बाधा है। किन्तु दोनों ही दशाओं में एक बार कृष्णभक्ति प्राप्त कर लेने के बाद विशुद्ध भक्त विनष्ट नहीं होता। अपने गुरुजनों (स्वायंभुव तथा ब्रह्मा) के आदेश से प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन स्वीकार किया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्तियोग के पद से उसको हाथ धोना पड़ा। कृष्णभक्ति तो पूर्ण एवं शाश्वत है, अतः किसी भी दशा में वह नष्ट नहीं हो सकती। चूँकि इस जगत में कृष्णभक्ति के पथ पर अनेक भौतिक बाधाएँ आती हैं, अतः कभी-कभी अनेक अवरोध प्रकट होते दिख सकते हैं। तो भी *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—“एक बार मेरे चरणकमलों में शरण लेने पर उसका विनाश नहीं होता।”

इस श्लोक में *शिवतमाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसका अर्थ है “अत्यन्त शुभ।” भक्ति का मार्ग इतना शुभ होता है कि भक्त का कभी नाश नहीं हो सकता। *श्रीमद्भगवद्गीता* (६.४०) में श्रीकृष्ण ने स्वयं इसका वर्णन किया है—*पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते*—“हे अर्जुन! भक्त का न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में विनाश होता है।” अन्यत्र (६.४३) भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट बताया है कि यह कैसे होता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

कभी-कभी भगवान् के आदेश से कोई परम भक्त इस भौतिक जगत में सामान्य मनुष्य की भाँति जन्म लेता है। ऐसा भक्त पूर्वाभ्यास के कारण अकारण ही भक्ति में संलग्न हो जाता है। अपने चारों ओर की परिस्थितियों के कारण सभी प्रकार की बाधाओं के आने पर भी वह स्वतः अपनी भक्ति में तब तक तत्पर रहता है, जब तक कि वह फिर से सिद्ध नहीं हो जाता। बिल्वमंगल ठाकुर पूर्वजन्म में महान् भक्त थे, किन्तु अगले जन्म में उनका पतन हुआ और वे एक वेश्या से अनुरक्त हो गये। किन्तु जिस वेश्या के प्रति वे इतने आकृष्ट हुए थे उसी के वचनों से अचानक उनकी जीवन-धारा बदल गई और वे एक महान् भक्त बन गये। सिद्ध भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने पर मनुष्य का विनाश नहीं हो सकता (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*) ।

तो भी वास्तविकता यही है कि पापमय जीवन के फलों से पूर्णतया मुक्त होने पर ही कोई भक्त बनता है। *भगवद्गीता* (७.२८) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

“जिन पुरुषों ने पिछले जन्मों में तथा इस जीवन में पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।” दूसरी ओर जैसाकि महाराज प्रह्लाद ने कहा है—

मतिर्न कृष्णो परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

जो व्यक्ति सांसारिक गृहस्थ जीवन—घर, कुटुम्ब, स्त्री, संतान इत्यादि—में अत्यधिक आसक्त है, वह कृष्णभक्ति विकसित नहीं कर सकता।

इन बाह्यरूपी विरोधाभासों का समाधान एक भक्त के जीवन में भगवान् के अनुग्रह से मिलता है, अतः भक्त को कभी मुक्ति के पथ से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता, जिसका वर्णन इस श्लोक में *शिवतमां पदवीम्* के रूप में किया गया है।

यर्हि वाव ह राजन्स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो
ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो
भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि
तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—चूँकि, क्योंकि; वाव ह—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; प्रियव्रतः—प्रियव्रत; परम—
महान; भागवतः—भक्त; नारदस्य—नारद के; चरण—चरणकमल की; उपसेवया—सेवा से; अञ्जसा—शीघ्र; अवगत—
परिचित हो गया; परम-अर्थ—दिव्य विषय; स-तत्त्वः—समस्त ज्ञेय तथ्यों सहित; ब्रह्म-सत्रेण—ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से;
दीक्षिष्यमाणः—पूर्ण समर्पण की कामना से; अवनि-तल—भूतल पर; परिपालनाय—राज्य करने के लिए; आम्नात—शास्त्रों में
निर्दिष्ट; प्रवर—सर्वोच्च; गुण—गुणों के; गण—समूह से; एकान्त—विचलित हुए बिना, अविचल; भाजनतया—पात्रता के
कारण; स्व-पित्रा—अपने पिता के द्वारा; उपामन्त्रितः—आज्ञा दिये जाने पर; भगवति—भगवान् में; वासुदेवे—सर्वव्यापी ईश्वर
में; एव—निश्चय ही; अव्यवधान—बिना विराम के; समाधि-योगेन—मग्न होकर योग साधने से; समावेशित—अत्यन्त समर्पित;
सकल—समस्त; कारक—इन्द्रियों; क्रिया-कलापः—जिनके समस्त कार्य; न—नहीं; एव—इस प्रकार; अभ्यनन्दत्—
अभिनन्दित; यद्यपि—यद्यपि; तत्—वह; अप्रत्याम्नातव्यम्—किसी प्रकार उल्लंघन न करने योग्य; तत्-अधिकरणे—उस पद
को ग्रहण करने में; आत्मनः—अपने आपको; अन्यस्मात्—अन्य कार्यों से; असतः—भौतिक; अपि—निश्चय ही; पराभवम्—
हास; अन्वीक्षमाणः—दूरदर्शिता से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, राजकुमार प्रियव्रत महान् भक्त थे क्योंकि
उन्होंने अपने गुरु नारद के चरणकमलों को प्राप्त कर दिव्य ज्ञान में उच्चतम सिद्धि प्राप्त की।
परम ज्ञान के कारण वे आत्म-विषयों की चर्चा में सदैव संलग्न रहे और उन्होंने अपना ध्यान
किसी ओर नहीं मोड़ा। इसके बाद राजकुमार के पिता ने आदेश दिया कि वह संसार पर राज्य
करने का भार ग्रहण करे। उन्होंने प्रियव्रत को आश्चस्त करना चाहा कि शास्त्रों के अनुसार यह
उसका कर्तव्य है, किन्तु प्रियव्रत ने तो निरन्तर भक्तियोग की साधना में रत रह कर भगवान् का
स्मरण करते हुए समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर रखा था। अतः पिता की आज्ञा
अनुलंघ्य होने पर भी राजकुमार ने उसका स्वागत नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने अपने
अन्तःकरण में यह प्रश्न किया कि संसार पर राज्य करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करके
कहीं वे अपनी भक्ति से पराङ्मुख तो नहीं हो जायेंगे?

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—
“विशुद्ध वैष्णव या गुरु के चरणकमलों की सेवा किये बिना भवसागर से निस्तार नहीं है।” राजकुमार
प्रियव्रत नारद के चरणकमलों की नियमित सेवा करते थे और इस प्रकार उन्हें दिव्य-तत्त्वों का सही
ज्ञान (सतत्त्वतः) हो गया था। स-तत्त्वतः का अर्थ है कि प्रियव्रत को आत्मा, भगवान् तथा आत्मा

एवं भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान था। वे इस भौतिक जगत के विषय में तथा ईश्वर से इसके सम्बन्ध के विषय में भी सब कुछ जानते थे। अतः राजकुमार ने ईश्वर की भक्ति में अपने को लगाये रखने का निश्चय किया।

जब प्रियव्रत के पिता स्वायंभुव मनु ने उनसे संसार पर राज्य करने के दायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया। यह महान् मुक्त भक्त का लक्षण है। सांसारिक व्यापारों में लीन होते हुए भी वह उनमें रुचि नहीं दिखाता, वरन् भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। इस प्रकार ईश्वर की सेवा करते हुए भी वह सांसारिक व्यापारों को उनसे प्रभावित हुए बिना ऊपर-ऊपर से करता रहता है। उदाहरणार्थ, बच्चों के प्रति आकर्षण न होते हुए भी वह उनकी चिन्ता करता है और उन्हें भक्त बनने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार वह अपनी पत्नी से प्रिय वचन बोलता है, किन्तु वह उससे आसक्त नहीं रहता। भक्ति भक्त के द्वारा परमात्मा के समस्त गुण ग्रहण कर लेता है। श्रीकृष्ण के एक से एक परम सुन्दरी सोलह हजार पत्नियाँ थीं और वे प्रत्येक से प्रिय पति की तरह आचरण करते थे, किन्तु वे किसी के प्रति आकृष्ट या आसक्त नहीं हुए। इसी प्रकार भक्त भले ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके अपनी पत्नी तथा पुत्रों से अत्यन्त प्यार जताता रहे, किन्तु इन कार्यों में वह कभी आसक्त नहीं होता।

यह श्लोक बताता है कि अपने गुरु के चरणकमलों की सेवा करने से प्रियव्रत को शीघ्र ही कृष्णभक्ति की सिद्ध-अवस्था प्राप्त हो गई। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की यही एकमात्र विधि है। वेदों में कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“यदि किसी को भगवान् तथा गुरु में अविचल श्रद्धा हो, तो मनुष्य को वैदिक ज्ञान का सार प्राप्त हो जाता है।” (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३) भक्त निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करता रहता है। “हरे कृष्ण मंत्र” का कीर्तन करते हुए उसे ‘कृष्ण’ तथा ‘हरे’ शब्दों से तुरन्त ही ईश्वर की समस्त लीलाओं का स्मरण हो आता है। चूँकि भक्त का समग्र जीवन ईश्वर की भक्ति में समर्पित रहता है, अतः वह एक क्षण के लिए भी ईश्वर को नहीं भुला पाता। जिस प्रकार एक सामान्य पुरुष अपने मन को भौतिक

गतिविधियों में लगाता है उसी प्रकार एक भक्त अपने मन को आध्यात्मिक कार्यों में लगाता है। इसे ब्रह्म-सूत्र अथवा सदैव भगवान् का चिन्तन कहते हैं। श्रीनारद ने राजकुमार प्रियव्रत को इस साधना में पूर्णतया दीक्षित कर दिया था।

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय
आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ह—निस्संदेह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; आदि-देवः—प्रथम देवता; एतस्य—इस ब्रह्माण्ड के; गुण-विसर्गस्य—तीनों गुणों की उत्पत्ति; परिबृंहण—कल्याण; अनुध्यान—सदैव ध्यानमग्न; व्यवसित—ज्ञात; सकल—सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड का; अभिप्रायः—परम उद्देश्य; आत्म—परम-आत्मा; योनिः—जिसके जन्म का स्रोत; अखिल—सम्पूर्ण; निगम—वेदों के द्वारा; निज-गण—अपने गणों (सहयोगियों) से; परिवेष्टितः—घिरे हुए; स्व-भवनात्—अपने धाम से; अवततार—नीचे आये।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोले: इस ब्रह्माण्ड के आदि जीव एवं सर्वशक्तिमान देवता ब्रह्माजी हैं, जो इस सृष्टि की समस्त गतिविधियों के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् से प्रत्यक्ष जन्म लेकर वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं, क्योंकि वे सृष्टि का उद्देश्य जानते हैं। ऐसे परम शक्तिशाली देवता ब्रह्माजी अपने पार्षदों तथा मूर्तिमान वेदों सहित अपने सर्वोच्च लोक से उस स्थान पर उतरे जहाँ राजकुमार प्रियव्रत ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि वेदान्त सूत्र में व्याख्या की गई है, भगवान् विष्णु प्रत्येक वस्तु के कारण है—जन्माद्यस्य यतः। चूँकि ब्रह्मा का जन्म सीधे भगवान् विष्णु से हुआ था, अतः वे आत्मयोनि कहलाते हैं। उन्हें भगवान् भी कहा जाता है, यद्यपि सामान्य रूप से भगवान् से विष्णु या श्रीकृष्ण का बोध होता है। कभी-कभी ब्रह्मा, नारद या शिव जैसी महान् विभूतियों को भी भगवान् कहकर सम्बोधित किया जाता है क्योंकि वे भगवान् का कार्य करते हैं। ब्रह्मा को इसलिए भगवान् कहा जाता है, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं। वे सदैव इस विचार में रहते हैं कि इस भौतिक जगत में भोग हेतु आई बद्ध-जीवात्माओं को किस प्रकार उन्नत किया जाये। इसीलिए वे ब्रह्माण्ड भर में प्रत्येक प्राणी के मार्गदर्शन हेतु वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते रहते हैं।

वैदिक ज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग इन्द्रिय सुख के बहिष्कार का मार्ग है, जबकि प्रवृत्ति मार्ग वह मार्ग है, जिससे जीवात्माएँ सुखोपभोग का अवसर

दिये जाने के साथ ही इस प्रकार निर्देशित की जाती हैं कि वे भगवान् के धाम को वापस जा सकें। चूँकि ब्रह्माण्ड पर राज्य करना एक महान् उत्तरदायित्व है, अतः विभिन्न युगों में ब्रह्मा अनेक मनुओं को सृष्टि भार उठाने के लिए बाध्य करते रहते हैं। प्रत्येक मनु के अधीन अनेक राजा रहते हैं, जो ब्रह्मा के कार्य को सम्पादित करते रहते हैं। पिछले विवरण से यह समझा जा सकता है कि ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद ने विश्व का शासन इसलिए सँभाला क्योंकि उनके बड़े भाई प्रियव्रत जीवन के प्रारम्भ से ही तप कर रहे थे। इस प्रकार प्रचेताओं तक ब्रह्माण्ड के राजा उत्तानपाद के वंशज ही रहे। चूँकि प्रचेताओं के पश्चात् कोई उपयुक्त राजा नहीं हुआ, अतः स्वायंभुव मनु गन्धमादन पर्वत से अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को वापस लाने पहुँचे, जहाँ वे ध्यान कर रहे थे। उन्होंने प्रियव्रत से विश्व का शासन सँभालने के लिए प्रार्थना की। किन्तु जब उन्होंने मना कर दिया, तो प्रियव्रत को मनाने के लिए सत्यलोक से ब्रह्माजी नीचे उतरे। ब्रह्माजी अकेले नहीं, आए थे उनके साथ मरीचि, आत्रेय तथा वसिष्ठ जैसे अन्य मुनि भी थे। वे अपने साथ अपने स्थायी साथी साक्षात् वेदों को भी लेते आये जिससे प्रियव्रत को विश्वास हो सके कि वैदिक आज्ञा का पालन करना तथा विश्व-शासन का भार सँभालना उनके लिए अनिवार्य था।

इस श्लोक में *स्व-भवनात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह सूचित होता है कि ब्रह्माजी अपने धाम से उतरे। प्रत्येक देवता का अपना धाम है। देवताओं के राजा इन्द्र, चन्द्र लोक के स्वामी चन्द्र तथा सूर्य ग्रह के प्रमुख श्रीविग्रह सूर्य के अपने-अपने धाम हैं। देवताओं की संख्या कई लाख है और विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रह उनके धामस्वरूप हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में मिलती है— *यान्ति देवव्रता देवान्*— “जो देवताओं की उपासना करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं।” भगवान् ब्रह्मा का धाम सर्वोच्च लोक, सत्यलोक अथवा कभी-कभी ब्रह्मलोक कहलाता है। सामान्य रूप से ब्रह्मलोक वैकुण्ठ जगत का सूचक है और ब्रह्मा का धाम सत्यलोक है, किन्तु वहाँ पर ब्रह्मा के निवास करने के कारण कभी-कभी इसे ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः
सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान् ब्रह्मा); तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; गगन-तले—आकाश मंडप के नीचे; उदु-पतिः—चन्द्रमा; इव—सदृश; विमान-आवलिभिः—अपने-अपने विमानों में; अनुपथम्—पथ में; अमर—देवताओं के; परिवृढैः—नायकों द्वारा; अभिपूज्यमानः—पूजित होकर; पथि पथि—एक के बाद एक पथ पर; च—भी; वरूथशः—समूहों में; सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों द्वारा; गन्धर्व—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; साध्य—साध्यलोक के वासियों द्वारा; चारण—चारणलोक के वासियों द्वारा; मुनि-गणैः—तथा मुनियों के द्वारा; उपगीयमानः—पूजित होकर; गन्ध-मादन—उस लोक का जहाँ गंधमादन पर्वत है; द्रोणीम्—घाटी या किनारे को; अवभासयन्—प्रकाशित करते हुए; उपससर्प—पहुँचा।

ज्योंही भगवान् ब्रह्मा अपने वाहन हंस पर आरूढ होकर नीचे उतरे, तो सिद्धलोक, गंधर्वलोक, साध्यलोक तथा चारणलोक के समस्त वासी तथा मुनि एवं अपने-अपने विमानों में उड़ते हुए देवताओं ने आकाशमण्डल के नीचे एकत्र होकर उनका स्वागत किया और पूजा की। विभिन्न लोकों के वासियों से आदर तथा स्तवन पाकर भगवान् ब्रह्मा ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों प्रकाशमान नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा हो। तब ब्रह्माजी का विशाल हंस गंधमादन की घाटी में प्रियव्रत के पास पहुँचा जहाँ वे बैठे हुए थे।

तात्पर्य : इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं के लोकों के बीच नियमित अन्तर्ग्रहीय यात्रा होती है। एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह भी प्रकट होती है कि एक ऐसा लोक भी है, जो पर्वतों से अधिकतर आच्छादित है, जिनमें से गन्धमादन पर्वत एक है। इस पर्वत पर प्रियव्रत, नारद तथा स्वायंभुव मनु—ये तीन महापुरुष आसीन थे। ब्रह्म-संहिता के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड विभिन्न लोकों से पूरित है और प्रत्येक लोक का अपना अद्वितीय ऐश्वर्य है। उदाहरणार्थ, सिद्धलोक के सभी वासी योगशक्तियों में अत्यधिक सिद्ध हैं। वे विमानों या अन्य उड़ने वाले यानों के बिना ही एक ग्रह से दूसरे तक उड़ान भर सकते हैं। इसी तरह गन्धर्वलोक के वासी गायन विद्या में कुशल हैं और साध्यलोक के वासी महान् साधु हैं। निस्सन्देह, अन्तर्ग्रहीय व्यवस्था का अस्तित्व है तथा एक ग्रह के वासी दूसरे ग्रह को जाते रहते हैं। लेकिन पृथ्वी पर अभी तक कोई ऐसी मशीन आविष्कृत नहीं हो पायी जो एक ग्रह से दूसरे को जा सके, यद्यपि चन्द्रमा तक सीधे जाने का असफल प्रयास किया गया है।

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह वा—निश्चय ही; एनम्—उसको; देव-ऋषिः—देवर्षि नारद; हंस-यानेन—अपने वाहन हंस द्वारा; पितरम्—अपने पिता; भगवन्तम्—सर्वशक्तिमान; हिरण्य-गर्भम्—भगवान् ब्रह्मा को; उपलभमानः—समझकर; सहसा एव—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; अर्हणेन—पूजन-सामग्री; सह—सहित; पिता-पुत्राभ्याम्—प्रियव्रत तथा उनके पिता स्वायंभुव मनु; अवहित-अञ्जलिः—आदरपूर्वक हाथ जोड़कर; उपतस्थे—अर्चना की।

नारद मुनि के पिता भगवान् ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। नारद ने ज्योंही विशाल हंस को देखा, वे तुरन्त समझ गये कि ब्रह्माजी आए हैं, अतः वे स्वायंभुव मनु तथा अपने द्वारा उपदेश दिये जाने वाले उनके पुत्र प्रियव्रत सहित अविलम्ब खड़े हो गये। तब उन्होंने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक भगवान् की आराधना प्रारम्भ की।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में आया है, ब्रह्माजी के साथ अन्य देवता भी थे, किन्तु उनका विशेष विशिष्ट विशाल हंस था। अतः जैसे ही नारद मुनि ने हंस को देखा, वे समझ गये कि उनके पिता ब्रह्माजी, जिन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है, आ रहे हैं। वे ब्रह्माजी का स्वागत करने तथा उनका सम्मान करने के लिए तुरन्त स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्र प्रियव्रत सहित उठ खड़े हुए।

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सद्यहासावलोक इति होवाच. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ब्रह्मा; अपि—भी; भारत—हे राजा परीक्षित; तत्—उनके द्वारा; उपनीत—आगे लायी गयी; अर्हणः—पूजन-सामग्री; सूक्त—वैदिक शिष्टाचार के अनुसार; वाकेन—वाणी से; अतितराम्—अत्यधिक; उदित—प्रशंसित; गुण-गण—गुणसमूह; अवतार—नीचे उतरने के कारण; सु-जयः—जिसकी कीर्ति; प्रियव्रतम्—प्रियव्रत को; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; तम्—उनको; स-दय—दयापूर्वक; हास—हँसते हुए; अवलोकः—जिनकी दृष्टि; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।

हे राजा परीक्षित, चूँकि ब्रह्माजी सत्यलोक से भूलोक में उतर चुके थे, अतः नारद मुनि, राजकुमार प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु ने आगे बढ़कर पूजन सामग्री अर्पित की और वैदिक विधि के अनुसार अत्यन्त शिष्ट वाणी से उनकी प्रशंसा की। तब इस ब्रह्माण्ड के प्रथम पुरुष ब्रह्मा प्रियव्रत पर सद्य मन्द मुस्कान-युक्त दृष्टि डालते हुए उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : प्रियव्रत से भेंट करने के लिए ब्रह्माजी सत्यलोक से नीचे उतरे जिससे यह सूचित होता है कि मामला अत्यन्त गंभीर था। नारद मुनि प्रियव्रत को आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के मूल्य का उपदेश देने के लिए पधारे थे और ब्रह्मा यह जानते थे कि नारद के उपदेश अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। अतः ब्रह्माजी जानते थे कि जब तक वे स्वयं प्रियव्रत को मनाने के लिए गंधमादन पर्वत नहीं जाते, प्रियव्रत अपने पिता की आज्ञा मानने वाले नहीं। ब्रह्माजी का उद्देश्य प्रियव्रत के संकल्प को भंग करना था। अतः उन्होंने पहले प्रियव्रत को सद्य दृष्टि से देखा। उनके मन्द हास तथा दयापूर्ण

भंगिमा से यह भी सूचित हो रहा था कि यद्यपि ब्रह्माजी प्रियव्रत से गृहस्थ जीवन स्वीकार करने का अनुरोध करेंगे, किन्तु प्रियव्रत का भक्तियोग से सम्पर्क टूटेगा नहीं। वैष्णव के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसे *कृपा-सिद्धि* अथवा गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि की प्राप्ति कहा गया है। यदि शास्त्रों में उल्लिखित अनुष्ठानों का पालन किया जाये, तो प्राणी प्रायः मुक्त और सिद्ध बन जाता है। फिर भी अनेक पुरुष अपने गुरु या गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

प्रियव्रत भगवान् ब्रह्मा के पौत्र थे और जैसाकि कभी-कभी पौत्र तथा पितामह में हँसी-हँसी में स्पर्धा होती है, इस प्रसंग में भी प्रियव्रत ध्यान में स्थित के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जबकि ब्रह्माजी उन्हें ब्रह्माण्ड का शासक बनाने पर तुल गये थे। अतः ब्रह्मा की सदय मुस्कान तथा दृष्टि का अभिप्राय था, “हे प्रियव्रत! तुमने संकल्प लिया है कि गृहस्थ जीवन स्वीकार नहीं करोगे, किन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाने पर तुल गया हूँ कि तुम्हें इसे स्वीकार करना होगा।” वास्तव में ब्रह्माजी प्रियव्रत के त्याग, तप, संयम तथा अनुरक्ति के उच्च आदर्श की प्रशंसा करने के लिए पधारे थे, जिससे वह गृहस्थ जीवन को स्वीकार कर लेने पर भी भक्ति के मार्ग से विचलित न हो।

इस श्लोक में *सूक्त-वाकेन* एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। वेदों में ब्रह्मा की यह स्तुति है— *हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।* ब्रह्मा का स्वागत उचित वैदिक स्तुतियों से किया गया, इसलिए वे अत्यधिक प्रसन्न थे।

श्रीभगवानुवाच
निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री- भगवान् उवाच— परम पुरुष ब्रह्मा ने कहा; निबोध— ध्यानपूर्वक सुनो; तात— मेरे प्रिय पुत्र; इदम्— यह; ऋतम्— सत्य; ब्रवीमि— बोल रहा हूँ; मा— मत; असूयितुम्— ईर्ष्यालु; देवम्— भगवान्; अर्हसि— तुम्हें चाहिए; अप्रमेयम्— जो हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से परे है; वयम्— हम; भवः— शिवजी; ते— तुम्हारा; ततः— पिता; एषः— यह; महा-ऋषिः— नारद; वहामः— पालन करते हैं; सर्वे— सभी; विवशाः— विचलित होने में अशक्त; यस्य— जिसकी; दिष्टम्— आज्ञा।

इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने कहा— हे प्रियव्रत, मैं जो कुछ कहूँ उसे ध्यान

से सुनो। परमेश्वर से ईर्ष्या न करो क्योंकि वे हमारे प्रयोगात्मक परिमाणों से परे हैं। हम सबों को, जिसमें शिवजी, तुम्हारे पिता तथा महर्षि नारद भी सम्मिलित हैं, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। हम उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते।

तात्पर्य : बारह भक्त महाजनों में से चार—स्वयं ब्रह्मा, उनके पुत्र नारद, स्वायंभुव मनु तथा शिवजी—प्रियव्रत के सम्मुख उपस्थित थे। उनके साथ अनेक अधिकृत साधुजन भी थे। ब्रह्माजी प्रियव्रत को सर्वप्रथम यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ये सभी महापुरुष *अधिकारी* हैं, किन्तु वे इस श्लोक में वर्णित *देव* अर्थात् *सदैव कीर्तिमय* भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। भगवान् की शक्ति, कीर्ति तथा शौर्य कभी न घटने वाले हैं। *ईशोपनिषद्* में ईश्वर को *अपापविद्ध* कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि वे भौतिक पापों से कभी प्रभावित नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी वर्णित किया गया है कि भगवान् इतने शक्तिशाली हैं कि उन पर हमारे विचार में समझे जानेवाला कोई भी कुत्सित कृत्य असर नहीं कर सकता है। परमेश्वर के पद की व्याख्या करने के लिए कभी-कभी सूर्य का उदाहरण दिया जाता है, जो मिट्टी में से मूत्र को उड़ा देता है, किन्तु स्वयं कलुषित नहीं होता। भगवान् पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता कि वे कोई गलत काम करते हैं।

ब्रह्माजी प्रियव्रत को ब्रह्माण्ड के शासन का भार स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने गये, तो वे किसी सनकवश नहीं गये। वे तो भगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे थे। दरअसल, ब्रह्मा तथा अन्य प्रमाणित अधिकारी उन भगवान् की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करते, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में विराजमान हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—ईश्वर ने ब्रह्मा को उनके हृदय के भीतर से वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी। जीवात्मा भक्ति से जितना ही पवित्र होता जाता है, वह भगवान् के उतने ही निकट सम्पर्क में आता है, जैसाकि *श्रीमद्भगवद्गीता* (१०.१०) में पुष्टि की गई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो मेरी सतत भक्ति से और प्रीतिपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ सकें।” अतः ब्रह्माजी अपनी सनक से प्रियव्रत के पास नहीं आये थे अपितु यही समझना

चाहिए कि भगवान् ने उन्हें प्रियव्रत को मनाने की आज्ञा दी थी। चूँकि उन्हें भौतिक इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता इसीलिए उन्हें यहाँ अप्रमेय कहा गया है। इसीलिए भगवान् ब्रह्मा ने प्रियव्रत को पहले यह समझाया कि वे उनके शब्दों को ध्यानपूर्वक और ईष्यारहित होकर सुनें।

यहाँ पर संकेत दिया गया है कि अन्य कुछ कार्य करना चाहते हुए भी मनुष्य को कुछ विशिष्ट कार्य क्यों करने पड़ते हैं। कोई भी प्राणी, चाहे वह शिवजी, ब्रह्माजी, मनु या महर्षि नारद के समान शक्तिशाली क्यों न हो, परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ये सभी महाजन निश्चय ही अत्यन्त शक्तिमान हैं, किन्तु उनमें भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। चूँकि ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञानुसार प्रियव्रत के पास आये थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने प्रियव्रत के मन से इस भ्रान्ति को दूर करना चाहा कि वे उसके शत्रु जैसा कार्य कर रहे हैं। ब्रह्माजी परमेश्वर की आज्ञा का पालन कर रहे थे अतएव प्रियव्रत को ब्रह्माजी के आदेश को जो भगवान् की इच्छा के अनुसार था, स्वीकार करना श्रेयस्कर था।

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; तस्य—उसका; कश्चित्—कोई भी; तपसा—तप से; विद्यया—विद्या से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; योग—योगबल से; वीर्येण—शारीरिक बल से; मनीषया—बुद्धि से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अर्थ—भौतिक ऐश्वर्य से; धर्मैः—धर्म से; परतः—किसी बाह्य शक्ति से; स्वतः—अपने प्रयास से; वा—अथवा; कृतम्—आज्ञा; विहन्तुम्—टालने में; तनु-भृत्—भौतिक देह स्वीकार करने वाला जीवात्मा; विभूयात्—समर्थ है।

भगवान् की आज्ञा को कोई न तो तपोबल, वैदिक शिक्षा, योगबल, शारीरिक बल या बुद्धिबल से टाल सकता है, न ही कोई अपने धर्म की शक्ति या भौतिक ऐश्वर्य से अथवा किसी अन्य उपाय से, न स्वयं या न पराई सहायता से परमात्मा के आदेशों को चुनौती दे सकता है। ब्रह्मा से लेकर एक चींटी तक, किसी भी जीवात्मा के लिए ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : गर्ग उपनिषद् में गर्गमुनि अपनी पत्नी से कहते हैं—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गर्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः—“हे गर्गी! प्रत्येक वस्तु भगवान् के वश में है। यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्र तथा अन्य नियन्ता एवं देवतागण, यथा ब्रह्मा तथा इन्द्र, सभी उनके वश में हैं।” चाहे सामान्य मनुष्य

हो या पशु, जिस किसी ने भौतिक देह धारण की है, वह भगवान् की नियंत्रण-सीमा से बाहर नहीं रह सकता। भौतिक देह में इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, किन्तु तथाकथित वैज्ञानिकों की इन्द्रिय-गतिविधियाँ निरर्थक लगती हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम अथवा प्रकृति के नियमों से विमुक्त होना चाहते हैं। भगवद्गीता से (७.१४) भी इसकी पुष्टि होती है। *मम माया दुरत्यया*—प्रकृति के नियंत्रण को पार कर पाना दुस्तर है, क्योंकि इसके पीछे भगवान् का हाथ रहता है। कभी-कभी हम अपने तप, त्याग तथा योगबल पर गर्व करते हैं, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के नियमों तथा आदेशों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। चाहे योग शक्ति से हो, वैज्ञानिक शिक्षा से हो अथवा तपोबल से हो। यह असम्भव है।

यहाँ *मनीषया* (बुद्धि से) शब्द का विशेष महत्त्व है। प्रियव्रत तर्क कर सकते थे कि ब्रह्मा उनसे गृहस्थ जीवन तथा राजपाट स्वीकार करने का अनुरोध कर रहे हैं, जबकि नारद मुनि ने उनसे गृहस्थ जीवन में न प्रवेश करने तथा भौतिक मामलों में न उलझने का उपदेश दिया था। इनमें से किसे स्वीकार किया जाये? यह प्रियव्रत के समक्ष उलझन थी, क्योंकि ब्रह्माजी तथा नारद मुनि दोनों ही प्रामाणिक महाजन हैं। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत *मनीषया* शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इससे सूचित होता है कि नारद मुनि तथा ब्रह्मा दोनों ही उपदेश देने के लिए अधिकृत थे, अतः प्रियव्रत इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्हें दोनों का उपदेश पालन करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करना था। ऐसी दुविधाओं को हल करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने बुद्धि का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः ।

निर्वन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमच्युते ॥

विषयान् अर्थात् भौतिक व्यापारों को बिना आसक्ति के स्वीकार करना चाहिए और प्रत्येक वस्तु ईश्वर की सेवा से जोड़ दी जानी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धि (मनीषा) है। यदि कोई कृष्ण की सेवा के लिए प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता है, तो भौतिक जगत में गृहस्थ होना या राजा होना हानिकर नहीं है। इसके लिए विमल बुद्धि की आवश्यकता है। मायावादी दार्शनिक कहते हैं—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह संसार मिथ्या है और केवल परब्रह्म ही सत्य है। किन्तु ब्रह्मा तथा महामुनि नारद की

परम्परा का अर्थात् ब्रह्मसम्प्रदाय का बुद्धिमान भक्त इस जगत को मिथ्या नहीं मानता। जिसकी भगवान् ने सृष्टि की वह मिथ्या कैसे हो सकती है, किन्तु सुख के लिए उसका उपयोग अवश्य ही मिथ्या है। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् के भोग के निमित्त है। *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—भगवान् सम्पूर्ण यज्ञ तथा तप के परम भोक्ता हैं, अतः उनके भोग तथा सेवा के निमित्त ही प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक वस्तु का उपभोग परमेश्वर की सेवा के लिए करना चाहिए। अपनी बुद्धि का यही उचित उपयोग है।

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय ।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भवाय—जन्म के निमित्त; नाशाय—मृत्यु के लिए; च—भी; कर्म—कार्य; कर्तुम्—करने के लिए; शोकाय—शोक के लिए; मोहाय—मोह के लिए; सदा—सदैव; भयाय—भय के लिए; सुखाय—सुख हेतु; दुःखाय—दुख हेतु; च—भी; देह-योगम्—भौतिक देह से सम्बन्ध; अव्यक्त—भगवान् द्वारा; दिष्टम्—निर्देशित; जनता—जीवात्माएँ; अङ्ग—हे प्रियव्रत; धत्ते—धारण करती हैं।

हे प्रियव्रत, भगवान् की आज्ञा से ही सभी जीवात्माएँ जन्म, मृत्यु, कर्म, शोक, मोह, भविष्य के संकटों के प्रति भय, सुख तथा दुख के हेतु विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करती हैं।

तात्पर्य : जितनी भी जीवात्माएँ इस संसार में आई हैं, वे सुखोपभोग के प्रयोजन से आई हैं, किन्तु अपने कर्म के अनुसार उन्हें भगवान् की आज्ञा से प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक न एक शरीर धारण करना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*—भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति सारे कार्य करती है। आधुनिक विज्ञानी यह नहीं जानते कि चौरासी लाख प्रकार के शरीर क्यों हैं। तथ्य यह है कि सभी शरीरों को उनकी इच्छानुसार कार्य करने की भगवान् छूट देते हैं, किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपने कर्मों के फल के अनुसार शरीर स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के शरीर हैं। कुछ जीव अल्पजीवी हैं, तो कुछ दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, भगवान् के आदेशानुसार कार्य करता है, क्योंकि वे प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में इस प्रकार हुई

है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

“मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है।” किन्तु यह सच नहीं है कि कुछ जीवात्माओं को भगवान् एक प्रकार का और अन्यो को अन्य प्रकार का आदेश देते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा की कुछ-न-कुछ इच्छा होती है और परमेश्वर उसकी पूर्ति के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। इसलिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् को आत्मसमर्पण करके उनकी इच्छानुसार कार्य किया जाये। जो ऐसा करता है, वह मुक्त हो जाता है।

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः

सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।

सर्वे वहामो बलिमीश्वराय

प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; वाचि—वैदिक आदेश के रूप में; तन्त्याम्—लम्बी रस्सी से; गुण—गुण; कर्म—(तथा) कर्म की; दामभिः—रस्सियों से; सु-दुस्तरैः—टाल पाना अत्यन्त कठिन है; वत्स—हे बालक; वयम्—हम; सु-योजिताः—लगे हुए हैं; सर्वे—सभी; वहामः—पालन करते हैं; बलिम्—ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी आज्ञाओं को; ईश्वराय—भगवान् को; प्रोताः—बद्ध होकर; नसि—नाक में; इव—सदृश; द्वि-पदे—दो पैर वाले (हाँकने वाले) को; चतुः-पदः—चौपाया (बैल)।

हे बालक, हम सभी अपने गुण तथा कर्म के अनुसार वैदिक आज्ञा द्वारा वर्णाश्रम विभागों में बँधे हुए हैं। इन विभागों से बच पाना कठिन है, क्योंकि ये वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित हैं। अतः हमें वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों का पालन उन बैलों के समान करना चाहिए जो नाक में बँधी नकेल खींचने वाले चालक के आदेश पर चलने के लिए बाध्य हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में तन्त्यां गुणकर्मदामभिः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमें प्रकृति के गुणों के साथ अपने संसर्ग के अनुसार शरीर प्राप्त होता है और तदनुसार हम कर्म करते हैं। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है गुण तथा कर्म के अनुसार सामाजिक प्रणाली के चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—व्यवस्थित हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं, क्योंकि कुछ का कहना है कि जब पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार देह प्राप्त होती है, तो जन्म के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक पदवी निर्धारित होनी चाहिए। किन्तु अन्यो का कथन है कि पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार जन्म ही

महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं क्योंकि इस जीवन में भी गुण तथा कर्म बदल सकते हैं। इस प्रकार उनका कहना है कि इसी जीवन के गुण तथा कर्म के अनुसार वर्णाश्रम के चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—किये जाने चाहिए। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* में इस मत की पुष्टि की है। महाराज युधिष्ठिर को गुण तथा कर्म के लक्षणों का उपदेश देते हुए नारद मुनि ने बताया कि इन लक्षणों से समाज-विभाजन को नियंत्रित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर शूद्र के लक्षणों वाला हो, तो उसे शूद्र कहलाना चाहिए और इसी प्रकार यदि शूद्र में, ब्राह्मण के गुण हों, तो उसे ब्राह्मण कहलाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली वैज्ञानिक है, अतः यदि हम वर्ण तथा आश्रम के विभागों को वैदिक निर्देशों के अनुसार स्वीकार कर लें, तो हमारा जीवन सफल हो सकेगा। जब तक मानव समाज इस प्रकार से विभाजित और व्यवस्थित नहीं हो जाता, वह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥

“भगवान् विष्णु की आराधना वर्णाश्रम प्रणाली में निर्देशित कर्तव्यों के समुचित पालन से की जाती है। भगवान् को प्रसन्न करने का कोई अन्य साधन नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह वर्णाश्रम धर्म में स्थित रहे।” पूरा मनुष्य-समाज भगवान् विष्णु की आराधना के निमित्त है। किन्तु इस समय मानव-समाज को यह पता नहीं है कि जीवन का यही परम ध्येय या सिद्धि है। इसलिए मनुष्यों को भगवान् विष्णु की पूजा न करके पदार्थ की पूजा करने की शिक्षा दी जाने लगी है। आधुनिक समाज के निर्देशानुसार मनुष्य सोचते हैं कि वे पदार्थ को गगनचुम्बी इमारतें, बड़ी-बड़ी सड़कें, स्वयंचालित वाहन इत्यादि में परिणत करके सभ्यता को प्रगति के पथ पर ले जा सकते हैं। ऐसी सभ्यता निश्चय ही भौतिकतावादी है, क्योंकि इस सभ्यता के लोगों को जीवन-लक्ष्य का पता नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो विष्णु को प्राप्त करना है। किन्तु लोग विष्णु तक न पहुँच कर भौतिक शक्ति के बाह्य रूप से मोहित हो जाते हैं। अतः भौतिक प्रगति अंधी होती है और इसके जननायक भी अंधे होते हैं। वे अपने अनुयायियों को उल्टी दिशा में ले जा रहे हैं।

अतः सबसे अच्छा यही है कि वेदों की आज्ञा मानी जाये जिसका उल्लेख इस श्लोक में *यद्-वाचि* के रूप में हुआ है। इस आज्ञा के अनुसार हर व्यक्ति को चाहिए कि वह यह जाने कि वह ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र और इसी के अनुसार उसे शिक्षा मिलनी चाहिए तभी उसका जीवन कृतार्थ है अन्यथा सारे मानव समाज में दुर्व्यवस्था फैल जायेगी। यदि मानव समाज वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित हो जाये और वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो मनुष्य का जीवन, चाहे वह जिस पद पर हो, सफल (कृतार्थ) हो सकेगा। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मणों को दिव्य पद प्राप्त होगा, शूद्रों को नहीं। यदि वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो सभी वर्ण, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, दिव्य पद तक पहुँच जाएंगे। वेदों की आज्ञाएँ भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इस श्लोक में रस्सी से नाथे हुए बैल का दृष्टान्त दिया गया है, जो हाँकने वाले के निर्देशानुसार चारों ओर घूमता है। इसी प्रकार यदि हम वेदों के निर्देशानुसार चलें, तो हमारा जीवन-पथ सुस्थिर हो। अन्यथा अपनी सनक के अनुसार कार्य करते रहने से हमारा जीवन निराशापूर्ण बन जाएगा। चूँकि इस समय लोग वेदों के निर्देशानुसार नहीं चल रहे इसलिए इतनी अव्यवस्था है। अतः हमें चाहिए कि हम ब्रह्माजी द्वारा प्रियव्रत को दिये गये निर्देश को वास्तविक वैज्ञानिक निर्देश मान कर अपने जीवन को फलीभूत करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में भी इसकी पुष्टि हुई है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

यदि हम शास्त्रों अर्थात् वेदों के निर्देश के अनुसार नहीं चलते, तो हमें जीवन में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, सुख अथवा उच्च पद प्राप्त करने की बात तो दूर रही।

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्धमेऽङ्ग

दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।

आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथश्

चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ईश-अभिसृष्टम्—ईश्वर द्वारा उत्पन्न या प्रदत्त; हि—निश्चय ही; अवरुन्धमे—हमें स्वीकार करना होता है; अङ्ग—हे प्रियव्रत; दुःखम्—दुख; सुखम्—सुख; वा—अथवा; गुण-कर्म—गुण तथा कार्य की; सङ्गात्—संगति से; आस्थाय—स्थित होकर; तत्—स्थिति; यत्—जो शरीर; अयुङ्क्त—उसने प्रदान किया; नाथः—परमेश्वर; चक्षुष्मता—नेत्रयुक्त पुरुष के द्वारा; अन्धाः—अंधे पुरुष; इव—सदृश; नीयमानाः—ले जाया जाकर।

हे प्रियव्रत, भगवान् विभिन्न गुणों के साथ हमारे संसर्ग के अनुसार हमें विशिष्ट शरीर प्रदान करते हैं और हम सुख तथा दुख प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जिस रूप में है वैसे ही रहे और भगवान् द्वारा उसी प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति आँख वाले व्यक्ति से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति भौतिक साधनों के द्वारा अपने विशिष्ट शारीरिक सुख तथा दुख से बच नहीं सकता। कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक में कुछ न कुछ सुख तथा दुख भोगना होता है। इसे हम बदल नहीं सकते क्योंकि सुख तथा दुख उन भगवान् के द्वारा निर्धारित हैं जिनके निर्णय के अनुसार ही हमें अपना शरीर मिला है। चूँकि हम भगवान् के विधान से बच नहीं सकते, अतः हमें चाहिए कि जिस प्रकार अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति के द्वारा पथ पर ले जाया जाता है उसी प्रकार हम ईश्वर के द्वारा संचालित हों। यदि हम परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, भगवान् ने जिस स्थिति में हमें डाल दिया है उसी में रहें और उनके आदेशों का पालन करते रहें, तो हम सिद्ध (पूर्ण) हो सकते हैं। जीवन का मुख्य लक्ष्य भगवान् के आदेशों का पालन है। ऐसे ही निर्देश हमारे धर्म या कर्तव्य के अंग हैं।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—*अन्य समस्त व्यापारों को त्याग कर मेरे समक्ष आत्मसमर्पण करके मेरा अनुगमन करो। भगवान् के निर्देशों का पालन करते हुए आत्मसमर्पण की यह विधि किसी जाति विशेष के लिए नहीं है। एक ब्राह्मण भी समर्पण कर सकता है और एक क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी। सभी इस विधि को अपना सकते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः—*मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् का उसी प्रकार अनुगमन करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति का करता है। यदि हम वेदों तथा *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के निर्देशों का पालन करते हैं, तो मारा जीवन कृतार्थ हो जाएगा। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं (*गीता* १८.६५)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

“निरन्तर मेरे विषय में सोचो, मेरे भक्त बनो तथा मेरा पूजन करो और मुझे ही प्रणाम करो। इस

प्रकार तुम निश्चय ही मेरे धाम को प्राप्त होगे। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।” यह निर्देश सभी लोगों के लिए है—चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। यदि कोई, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, भगवान् को आत्मसमर्पण करता है और उनके निर्देशों का पालन करता है, तो उसका जीवन कृतार्थ होगा।

पिछले श्लोक में बैलगाड़ी को हाँकने वाले के निर्देश पर घूमने वाले बैलों की उपमा दी गई है। बैल हाँकनेवाले के प्रति पूर्णतया समर्पित रहते हैं जिसके कारण वह उन्हें जहाँ चाहता है ले जाता है और जैसा चाहता है खाने को देता है। इसी प्रकार भगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर हमें सुख अथवा दुःख के लिए ग्लानि नहीं करनी चाहिए; हमें ईश्वर द्वारा निर्धारित पद से संतुष्ट रहना चाहिए। हमें भक्ति-मार्ग का पालन करना चाहिए और ईश्वर द्वारा प्रदत्त सुख तथा दुःख से असंतुष्ट नहीं होना चाहिए। सामान्य रूप से रजो तथा तमो गुणों के वशीभूत होकर लोग चौरासी लाख योनियों में घूमने वाली भगवान् की व्यवस्था को नहीं समझ पाते, किन्तु मनुष्य योनि को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि वह इस व्यवस्था को समझे, भक्ति करे और ईश्वर के निर्देशों का अनुगमन करते हुए उच्च पद प्राप्त करे। सम्पूर्ण जगत गुणों के, विशेष रूप से रजो तथा तमों गुणों के, अधीन कार्यशील है, किन्तु यदि लोग परमेश्वर के यश के श्रवण तथा कीर्तन में संलग्न रहें, तो उनका जीवन सफल हो सकता है और वे परम सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अतः *बृहन्नरदीय पुराण* में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

इस कलियुग में आध्यात्मिक पूर्णता हेतु पावन हरि नाम के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है, नहीं है, नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का पवित्र नाम सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार से वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझेगा और सतोगुण से ऊपर दिव्य पद को प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार उसके उन्नति-पथ के सभी अवरोध छिन्न-छिन्न हो जाएँगे। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् ने हमें जिस स्थिति में रख दिया है उसी से हम सन्तुष्ट रहें और हम उनकी भक्ति में संलग्न रहने का प्रयास करें। तभी हमारा जीवन सफल हो सकेगा।

मुक्तोऽपि तावद्विभ्रयात्स्वदेह-

मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।

यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः

किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्त पुरुष; अपि—ही; तावत्—तब तक; विभ्रयात्—धारण करना चाहिए; स्व-देहम्—अपना शरीर; आरब्धम्—पूर्व कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त; अश्नन्—स्वीकार करते हुए; अभिमान-शून्यः—अभिमान रहित; यथा—जिस प्रकार; अनुभूतम्—जैसा अनुभव किया गया हो; प्रतियात-निद्रः—निद्रा से जगा हुआ; किम् तु—लेकिन; अन्य-देहाय—दूसरी देह के लिए; गुणान्—गुणों को; न—नहीं; वृङ्क्ते—भोगता है।

मुक्त होते हुए भी मनुष्य पूर्व कर्मों के अनुसार प्राप्त देह को स्वीकार करता है। किन्तु वह भ्रान्तिरहित होकर कर्म-वश प्राप्त सुख तथा दुख को उसी प्रकार मानता है, जिस प्रकार जाग्रत मनुष्य सुप्तावस्था में देखे गये स्वप्न को। इस तरह वह दृढ़प्रतिज्ञ रहता है और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर दूसरा शरीर पाने के लिए कभी कार्य नहीं करता।

तात्पर्य : बद्ध तथा मुक्तजीव में यही अन्तर है कि बद्धजीव देहात्मबुद्धि से प्रभावित रहता है, किन्तु मुक्तजीव जानता है कि वह देह नहीं वरन् देह से भिन्न आत्मा है। प्रियव्रत ने यह विचार किया होगा कि जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने उन्नत हैं बद्धजीव प्रकृति के नियमानुसार कर्म करने के लिए बाध्य है, तो फिर वे जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने बड़े चढ़े हैं आध्यात्मिक उन्नति में उसी प्रकार से बन्धन तथा बाधाओं को क्यों स्वीकार करें? इस सन्देह को दूर करने के लिए ही ब्रह्माजी ने उन्हें बताया कि मुक्तजन भी पूर्वकर्मों के फल को इस जीवन में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करते। सोते समय स्वप्न में अनेक मिथ्या वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु जागने पर मनुष्य इसकी परवाह नहीं करता और वास्तविक जीवन में आगे बढ़ता रहता है। इसी प्रकार, एक मुक्त व्यक्ति—जो भली भाँति जानता है कि वह शरीर नहीं वरन् आत्मा है—अज्ञानवश किये गये विगत कर्मों की परवाह नहीं करता और अपने वर्तमान सामाजिक कार्यों को इस प्रकार से करता है कि उनका कोई प्रतिफल (बन्धन) नहीं होता। इसका उल्लेख भगवद्गीता (३.९) में हुआ है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—यदि कोई यज्ञपुरुष भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उस कर्म का बन्धन नहीं होता, किन्तु कर्मीजन, जो अपने लिए कर्म करते हैं अपने कर्म फलों से बँधे रहते हैं। अतः मुक्त पुरुष अतीत में अज्ञानतावश जो कुछ कर चुका है उसके सम्बन्ध में सोच-विचार नहीं करता, उल्टे वह इस प्रकार से कर्म करता है कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप दूसरा शरीर न धारण करना पड़े। जैसाकि *भगवद्गीता*

(१४.२६) में स्पष्ट किया गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

सं गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्णरूप से मेरी भक्ति करता है, जो किसी स्थिति में उससे च्युत नहीं होता वह अविलम्ब तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।” चाहे पूर्वजन्मों में जो भी कर्म किये गए हों, यदि इस जीवन में हम ईश्वर की शुद्ध भक्ति करते हैं, तो हम सदैव ब्रह्मभूत (मुक्त) अवस्था को प्राप्त होंगे और हमें दूसरा शरीर नहीं धारण करना पड़ेगा। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (*भगवद्गीता* ४.९)। जो मनुष्य इस प्रकार कर्म करता है, उसे शरीर त्यागने के बाद दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता, वरन् वह भगवान् के धाम को वापस जाता है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्

यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।

जितेन्द्रियस्यात्मारतेर्बुधस्य

गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; वनेषु—वनों में; अपि—भी; स्यात्—होना चाहिए; यतः—क्योंकि; सः—वह (जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं); आस्ते—रहता है; सह—साथ; षट्-सपत्नः—छह सपत्नियाँ; जित-इन्द्रियस्य—इन्द्रियों को जीतने वाले का; आत्म-रतेः—आत्मतुष्ट; बुधस्य—ऐसे विद्वान का; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करोति—कर सकता है; अवद्यम्—क्षति।

जो मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत है, भले ही वह वन-वन विचरण करता रहे, तो भी उसे बन्धन का भय बना रहता है क्योंकि वह मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—इन छः सपत्नियों के साथ रह रहा होता है। किन्तु आत्मतुष्ट विद्वान जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, उसे गृहस्थ जीवन कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है— *गृहे वा वनेते थाके, 'हा गौरांग' बले डाके*—चाहे कोई वन में रहे या घर में, यदि वह श्री चैतन्य की भक्ति में लगा हुआ है, तो वह मुक्त पुरुष है। यहाँ भी इसी को दुहराया गया है। यदि इन्द्रियों को वश में नहीं किया गया, तो योगी बनने के लिए वन में जाना निरर्थक है। चूँकि अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियाँ उसके साथ जा रही होती हैं इसलिए गृहस्थ जीवन त्याग कर वन में रहने पर भी उसे कुछ लाभ नहीं होगा। प्राचीन काल में भारत के ऊपरी भागों के

वणिकजन बंगाल जाया करते थे, अतः एक परिचित कहावत है, “यदि आप बंगाल जाते हैं, तो भाग्य आपका पीछा करता है।” अतः हमारा पहला कर्तव्य है कि हम इन्द्रियों को वश में रखें, किन्तु वे बिना भगवद्भक्ति के वशीभूत नहीं होतीं, अतः हमारा परम कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाएँ। *हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ है ईश्वर की सेवा में विशुद्ध इन्द्रियों का लगना।

यहाँ पर ब्रह्माजी यह इंगित करते हैं कि इन्द्रियों को वश में किये बिना वन में जाने की अपेक्षा श्रेयस्कर होगा कि उन्हें ईश्वर की सेवा में संलग्न किया जाय। गृहस्थाश्रम ऐसे आत्मजयी पुरुष को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता; उसे सांसारिक बन्धन में नहीं डाल सकता। श्रील रूप गोस्वामी ने इस स्थिति को आगे स्पष्ट किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“यदि कोई मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की भक्ति में लगा रहता है, तो उसकी परिस्थितियों कुछ भी हों, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए।” श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक निष्ठावान अधिकारी तथा गृहस्थ थे फिर भी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के सन्देश को दूर-दूर तक फैला कर उन्होंने जो सेवा की वह अद्वितीय है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर का कथन है—*दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्प-पटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते*। हमारी इन्द्रियाँ निश्चिन्त ही हमारी परम शत्रु हैं अतः उनकी तुलना विषधर सर्पों से की गई है। किन्तु यदि विषैले सर्प के विषदन्त निकाल लिये जाँय, तो वह डरावना नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी हों, तो उनके कार्यों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तो भक्त इसी जगत् में भ्रमण करते हैं, किन्तु चूँकि उनकी इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी रहती हैं इसलिए वे इस जगत् से सदा विलग रहते हैं। वे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं।

यः षट्सपलान्विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्

क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; षट्—छः; सपत्नान्—प्रतिपक्षी (शत्रु); विजिगीषमाणः—जीतने की आकांक्षा रखने वाले; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; निर्विषय—प्रवेश करके; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; पूर्वम्—प्रथम; अत्येति—जीत लेता है; दुर्ग-आश्रितः—सुरक्षित स्थान (दुर्ग) में रहते हुए; ऊर्जित-अरीन्—अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को; क्षीणेषु—क्षीण; कामम्—विषयवासना; विचरेत्—विचरण कर सकता है; विपश्चित्—अत्यन्त अनुभवी, विद्वान्।

गृहस्थाश्रम में रह कर जो मनुष्य अपने मन तथा पाँचों इन्द्रियों को विधिपूर्वक जीत लेता है, वह उस राजा के समान है, जो अपने किले (दुर्ग) में रहकर अपने बलशाली शत्रुओं को पराजित करता है। गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित हो जाने पर तथा कामेच्छाओं को क्षीण करके मनुष्य बिना किसी भय के कहीं भी घूम सकता है।

तात्पर्य : चार वर्णों तथा चार आश्रमों की वैदिक प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है और इसका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व विद्यार्थी को जितेन्द्रिय बनने की पूरी शिक्षा दी जाती है। ऐसे वयस्क विद्यार्थी को ही गृहस्थ बनने की अनुमति प्रदान की जाती है और चूँकि इसके पूर्व उसे इन्द्रियों को जीतने की शिक्षा दी जा चुकी होती है इसलिए ज्योंही तरुणावस्था की प्रबल तरंगें समाप्त हो जाती हैं और वह पचास वर्ष या इससे अधिक आयु प्राप्त कर लेता है, तो वह गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थी बन जाता है। इसके पश्चात् और आगे शिक्षित होकर वह संन्यास ग्रहण करता है। तब वह पूर्ण विद्वान तथा विरक्त पुरुष होता है और भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट होने के भय के बिना वह कहीं भी घूम सकता है। इन्द्रियों को प्रबल शत्रु माना जाता है। जिस प्रकार से सुदृढ़ दुर्ग में स्थित राजा प्रबल शत्रुओं को जीत सकता है उसी प्रकार से गृहस्थाश्रम में रहकर एक गृहस्थ अपनी युवावस्था की विषय-वासनाओं को जीत सकता है और वानप्रस्थ तथा संन्यास ग्रहण करने पर अत्यन्त निर्भय, निःशंक रहता है।

त्वं त्वब्जनाभाङ्घिसरोजकोश-

दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपलः ।

भुङ्क्ष्वेह भोगान्पुरुषातिदिष्टान्

विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम स्वयं; तु—तब; अब्ज-नाभ—जिनकी नाभि कमल-पुष्प के सदृश है, ऐसे भगवान्; अङ्घ्रि—चरण; सरोज—कमल; कोश—मुँह, सम्पुट; दुर्ग—किला; आश्रितः—शरणागत; निर्जित—विजित; षट्-सपलः—छःशत्रु (मन तथा अन्य

पाँच इन्द्रियाँ); भुङ्क्व—भोग करो; इह—जगत में; भोगान्—भोग्य वस्तुएँ; पुरुष—परम पुरुष द्वारा; अतिदिष्टान्—विशेषतया आदेशित; विमुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गः—भौतिक लगाव से; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; भजस्व—भोग करो।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे प्रियव्रत, कमलनाभ ईश्वर के चरणकमल के कोश में शरण लेकर छहों ज्ञान इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। तुम भौतिक सुख-भोग स्वीकार करो, क्योंकि भगवान् ने तुम्हें विशेष रूप से ऐसा करने के लिए आज्ञा दी है। इस तरह तुम भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकोगे और अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भगवान् की आज्ञाएँ पूरी कर सकोगे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन प्रकार के प्राणी हैं—वे जो अत्यधिक इन्द्रिय-भोग करने का प्रयास करते हैं, कर्मी कहलाते हैं; इनसे ऊपर ज्ञानी हैं, जो इन्द्रियों की वासनाओं को रोकने का यत्न करते हैं और इनसे भी ऊपर योगी हैं जिन्होंने पहले ही इन्द्रियों को जीत लिया है। किन्तु इनमें से कोई भी दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं हैं। केवल भक्त, जो ऊपर उद्धृत तीन में से किसी प्रकार के नहीं है, दिव्य होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में व्याख्या की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्णरूप में मेरी भक्ति में लगा है और किसी भी स्थिति में गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया को पार करके ब्रह्म स्तर पर पहुँच जाता है।” यहाँ ब्रह्माजी प्रियव्रत को गृहस्थ जीवन नहीं, अपितु भगवान् के चरणकमल के दुर्ग के भीतर (*अब्ज-नाभाङ्घ्रि-सरोज*) शरण लेने का उपदेश देते हैं। जब भौरा कमल की कली के छेद में घुसकर मधुपान करता है, तो वह कमल की पंखड़ियों से भलीभाँति रक्षित होता है। उसे सूर्यप्रकाश तथा अन्य बाहरी कारण प्रभावित नहीं कर पाते। इसी प्रकार भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाले को भय नहीं सताते। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.५८) में कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥

“जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण की है उसके लिए प्रत्येक वस्तु सरल हो जाती

है—यहाँ तक कि इस भवसागर (भवाम्बुधि) का संतरण गोखुर (वत्स-पदम्) के समान सरल हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए उस स्थान में, जहाँ प्रति पद पर बाधा हो, रहने का प्रश्न ही नहीं उठता है।”

हमारा वास्तविक कर्तव्य भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ हैं, तो हम चाहे स्वर्ग में रहें या नरक में, सर्वत्र सुरक्षित हैं। यहाँ पर प्रकृति भजस्व—ये शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। प्रकृतिम् का अर्थ है किसी की स्वाभाविक स्थिति। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है कि वह भगवान् का चिरन्तन दास है। इसीलिए ब्रह्माजी ने प्रियव्रत को उपदेश दिया, “अपनी मूल स्थिति में भगवान् के चिरन्तन दास के रूप में बने रहो। यदि तुम उनकी आज्ञा का पालन करते हो, तो भौतिक भोग (भुक्ति) के बीच रहते हुए भी नीचे नहीं गिरोगे।” कर्मफलों से प्राप्त होने वाली भुक्ति भगवान् द्वारा प्रदत्त भुक्ति से भिन्न होती है। कभी-कभी भक्त परम ऐश्वर्यवान् होता है किन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही वह ऐसे किसी पद स्वीकार करता है। अतः भक्त भुक्ति से प्रभावित नहीं होता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तजन श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार संसार भर में उपदेश दे रहे हैं। उनकी अनेक कर्मियों से भेंट होती रहती है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुग्रह से वे विषय-तरंगों से कभी प्रभावित नहीं होते। भक्तों को उनका आशीर्वाद प्राप्त है जैसाकि चैतन्य चरितामृत (मध्य ७.१२९) में कहा गया है—

कभु ना बाधिबे तोमार विषय-तरंग।

पुनरपि एइ ठाजि पाबे मोर संगे ॥

ऐसा एकनिष्ठ भक्त जो श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का विश्व भर में उपदेश देता है उसे विषय-तरंगें नहीं सतातीं। उल्टे, वह कालक्रम के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण में वापस जाता है और इस प्रकार उनसे उसकी शाश्वत संगति बनी रहती है।

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवत्स्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति
सबहुमानमुवाह. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; समभिहितः—पूर्णतया उपदिष्ट; महा-भागवतः—परम भक्त; भगवतः—अति शक्तिमान् ब्रह्माजी का; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; गुरोः—गुरु की; अनुशासनम्—आज्ञा, आदेश; आत्मनः—स्वयं का; लघुतया—लघुता के कारण; अवनत—झुका हुआ; शिरोधरः—उसका शिर; बाढम्—जो आज्ञा; इति—इस प्रकार; स-बहु-मानम्—अत्यन्त आदर समेत; उवाह—पालन किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार तीनों लोकों के गुरु ब्रह्माजी द्वारा भलीभाँति उपदेश दिये जाने पर अपना पद छोटा होने के कारण प्रियव्रत ने नमस्कार करते हुए उनका आदेश शिरोधार्य किया और अत्यन्त आदरपूर्वक उसका पालन किया।

तात्पर्य : श्री प्रियव्रत ब्रह्माजी के पौत्र थे, अतः सामाजिक शिष्टाचार के नाते उनका पद छोटा था और छोटों का यह धर्म है कि वे अपने गुरुजनों के आदेश का पालन करें। इसीलिए प्रियव्रत ने तुरन्त कहा, “जो आज्ञा मैं आपके आदेश का पालन करूँगा।” प्रियव्रत को महाभागवत अर्थात् महान् भक्त कहा गया है। महान् भक्त का यह कर्तव्य है कि वह अपने गुरु अथवा गुरु के भी गुरु की आज्ञा का परम्परानुसार पालन करे। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कथित है—*एवं परम्परा प्राप्तम्—मनुष्य को गुरु परम्परा से भगवान् के आदेश प्राप्त करने होते हैं। भगवान् का भक्त अपने को भगवान् के दासों का भी दास मानता है।*

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः

प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत् ॥

२१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—परम शक्तिमान् ब्रह्माजी; अपि—भी; मनुना—मनु द्वारा; यथावत्—अभीष्ट रूप से; उपकल्पित-अपचितिः—आराधित होकर; प्रियव्रत-नारदयोः—प्रियव्रत तथा नारद की उपस्थिति में; अविषमम्—बिना द्वेष के; अभिसमीक्षमाणयोः—दृष्टिपात करते हुए; आत्मसम्—अपने पद के अनुकूल; अवस्थानम्—अपने धाम को; अवाक्-मनसम्—मन तथा वाणी के वर्णन से परे; क्षयम्—ग्रह, लोक; अव्यवहृतम्—अपूर्व स्थित; प्रवर्तयन्—विदा लेते हुए; अगमत्—वापस चले गये।

इसके पश्चात् मनु ने ब्रह्माजी को संतुष्ट करते हुए विधिवत् पूजा की। प्रियव्रत तथा नारद ने भी किसी प्रकार का विरोध दिखाये बिना ब्रह्माजी की ओर देखा। प्रियव्रत से उसके पिता की मनौती स्वीकार कराकर ब्रह्माजी अपने धाम सत्यलोक को चले गये, जिसका वर्णन भौतिक मन तथा वाणी के परे है।

तात्पर्य : मनु को अत्यधिक सन्तोष हुआ कि ब्रह्माजी ने उसके पुत्र प्रियव्रत को जगत के शासन का भार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। प्रियव्रत तथा नारद भी संतुष्ट थे। यद्यपि ब्रह्मा ने प्रियव्रत

को सांसारिकता स्वीकार करने के लिए बाध्य करके उनके ब्रह्मचारी बने रहने तथा भगवद्भक्ति में पूर्णतया लीन रहने के व्रत को खण्डित कर दिया था, तो भी नारद तथा प्रियव्रत ने ब्रह्माजी पर रोष प्रकट नहीं किया। नारद को इसका किंचित दुख नहीं था कि प्रियव्रत को अपना शिष्य बनाकर उन्हें हताशा हुई है। प्रियव्रत तथा नारद समान रूप से महात्मा थे, जो ब्रह्मा का सम्मान करना जानते थे। अतः ब्रह्माजी पर किसी प्रकार का रोष न प्रकट करते हुए उन्हें भावुक होकर सम्मान प्रकट किया। इसके पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्वर्गीय धाम, सत्यलोक, चले गये जिसे यहाँ पर अवर्णनातीत और अगम्य कहा गया है।

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी अपने धाम को वापस चले गये जो उनके व्यक्तित्व के ही समान महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सृजन कर्ता और उसके यहाँ के सर्वाधिक वरेण्य विभूति हैं। भगवद्गीता (८.१७) में उनकी जीवन-अवधि का वर्णन है— *सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्माणो विदुः*— चारों युग की कुल अवधि ४३,००,००० वर्ष है। यदि इसे १००० से गुणा किया जाये, तो जो कालावधि प्राप्त होगी वह ब्रह्मा के जीवन के बारह घण्टे के तुल्य है। अतः किसी के लिए ब्रह्मा के बारह घण्टों का सही अनुमान लगा पाना भी कठिन है। फिर भला उनके सौ वर्ष के पूरे जीवन का अनुमान तो दूर रहा। तो हम उनके धाम को कैसे समझ सकते हैं? तो वैदिक साहित्य बताता है कि सत्यलोक में जन्म, मृत्यु, जरा या व्याधि नहीं होते। दूसरे शब्दों में, सत्यलोक ब्रह्मलोक से आगे स्थित है, अतः यह वैकुण्ठ लोक के ही तुल्य हुआ। ब्रह्मा के धाम का वर्णन हमारे वर्तमान पद से परे है, इसलिए उसे *अवाङ्-मनसा-गोचर* कहा गया है—अर्थात् वाणी तथा मन के वर्णन से परे। वैदिक साहित्य में ब्रह्मा के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है— *यद् वै परार्ध्यं तद् उपारमेष्ठ्यं न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नीर्तिर्न चोद्वेगः*—“सत्यलोक में, जो लाखों-करोड़ों वर्ष की दूरी पर स्थित है वहाँ न शोक है, न जरा, मृत्यु, चिन्ता या शत्रुओं का प्रभाव।”

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; अपि—भी; परेण—ब्रह्मा द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रतिसन्धित—पूर्ण हुआ; मनः-रथः—अपना मनोरथ; सुर-ऋषि-वर—महर्षि नारद की; अनुमतेन—अनुमति से; आत्म-जम्—अपने पुत्र को; अखिल—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; धरा-

मण्डल—लोकों का; स्थिति—पालन; गुप्तये—रक्षा हेतु; आस्थाप्य—स्थापित करके; स्वयम्—स्वयं; अति-विषम—अत्यन्त भयावने; विषय—सांसारिक प्रपंच; विष—विष का; जल-आशय—समुद्र; आशायाः—कामनाओं से; उपरराम—निवृत्ति प्राप्त की।

इस प्रकार ब्रह्माजी की सहायता से स्वायंभुव मनु का मनोरथ पूर्ण हुआ। उन्होंने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को समस्त भूमण्डल के पालन का भार सौंप दिया और इस तरह स्वयं भौतिक कामनाओं के अति दुस्तर तथा विषमय सागर से निवृत्ति प्राप्त कर ली।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु एक प्रकार से निराश ही थे क्योंकि नारद जैसी विभूति ने उनके पुत्र प्रियव्रत को गृहस्थाश्रम न स्वीकार करने का उपदेश दे रखा था। अब वे अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि ब्रह्माजी ने बीच में पड़कर उनके पुत्र प्रियव्रत को राज्यभार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। भगवद्गीता से हमें यह जानकारी मिलती है कि वैवस्वत मनु सूर्यदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र महाराज इक्ष्वाकु ने इस पृथ्वीलोक पर शासन किया। किन्तु ऐसा लगता है कि स्वायंभुव मनु पर समस्त ब्रह्माण्ड के पालन और रक्षा करने का भार था। धरामण्डल का अर्थ “लोक” है। उदाहरणार्थ, यह पृथ्वी धरा-मंडल कहलाती है। किन्तु अखिल का अर्थ सम्पूर्ण अथवा विश्वव्यापी है। अतः यह समझ पाना कठिन है कि महाराज प्रियव्रत कहाँ स्थित थे, किन्तु इस वर्णन से यह निश्चित रूप से प्रकट है कि उनका पद वैवस्वत मनु से बड़ा था, क्योंकि उनपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का भार सौंपा गया था।

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वायंभुव मनु को ब्रह्माण्ड के सभी लोकों के राज्यभार से निवृत्ति मिलने पर अत्यधिक संतोष हुआ। आजकल राजनीतिक व्यक्ति राष्ट्रपति या ऐसे उच्च पद को प्राप्त करने की आकांक्षा से जनमत प्राप्त करने हेतु अपने-अपने आदमी नियुक्त करने के लिए उत्सुक होते हैं, जो द्वार-द्वार जाकर उनका प्रचार करें। इसके विपरीत यहाँ हम पाते हैं कि समस्त संसार का राज्य भार सँभालने के लिए प्रियव्रत को ब्रह्मा द्वारा मनाया जाना पड़ा। इसी प्रकार उनके पिता स्वायंभुव मनु ने विश्व का राज्य अपने पुत्र को सौंपते हुए अत्यन्त शान्ति महसूस की। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में राजा तथा उनके राज्य-अधिकारी इन्द्रिय-भोग के लिए इन पदों को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे महान् राजा राजर्षि कहलाते थे और प्रजा की भलाई के लिए राज्य का पालन और संरक्षण करने के लिए शासन करते थे। प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु का इतिहास बताता है कि किस प्रकार आदर्श राजा निःस्वार्थ भाव से राज्य का संचालन करते थे और अपने को भौतिक आसक्ति से

कलुषित होने से दूर रखते थे।

यहाँ पर विषयों की तुलना विष-सागर से की गई है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने भी अपने एक गीत में इन्हें ऐसा ही बताया है—

संसार विषानले, दिवा-निशि हिया ज्वले,

जुडाइते ना कैनु उपाय

“मेरा हृदय संसार की अग्नि में सदा जलता रहता है और उससे उबरने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है।”

गोलोकेर प्रेम-धन, हरि-नाम-संकीर्तन

रति ना जन्मिल केने ताय

“इसकी एकमात्र औषधि हरिनाम संकीर्तन अर्थात् ‘हरे कृष्ण महामंत्र’ का जप है, जो गोलोक वृन्दावन से लाया गया है। मैं कितना अभागा हूँ कि उसके लिए मुझमें तनिक भी आकर्षण नहीं है।” मनु ने ईश्वर के चरणकमल की शरण चाही थी, इसलिए उनके पुत्र प्रियव्रत के राज्य संभाल लेने पर वे अत्यन्त शान्त हुए। यही वैदिक-सभ्यता की परम्परा है। जीवन के अन्तिम समय प्रत्येक व्यक्ति को विषयों से मुक्त होकर भगवान् की भक्ति में पूर्णतया लगना चाहिए।

सुरर्षि-वर अनुमतेन शब्द भी सार्थक हैं। मनु ने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को राज्य दे दिया। इसका विशेष उल्लेख यहाँ इसलिए हुआ है क्योंकि नारद चाहते थे कि प्रियव्रत समस्त विषयों से मुक्त रहें, किन्तु जब ब्रह्माजी तथा मनु की प्रार्थना पर प्रियव्रत ने ब्रह्माण्ड का राज्य-भार स्वीकार कर लिया, तो नारद भी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्वन्ध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह वाव—निस्सन्देह; सः—वह; जगती-पतिः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राजा; ईश्वर-इच्छया—भगवान् के आदेश से; अधिनिवेशित—पूर्णतया संलग्न; कर्म-अधिकारः—भौतिक कार्यों में; अखिल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; बन्ध—बन्धन; ध्वंसन—विनष्ट करते हुए; पर—दिव्य; अनुभावस्य—जिसका प्रभाव; भगवतः—भगवान् के; आदि-पुरुषस्य—आदि पुरुष के; अङ्घ्रि—चरणकमल में; युगल—दो; अनवरत—अहर्निश; ध्यान-अनुभावेन—ध्यान द्वारा;

परिरन्धित—विनष्ट; कषाय—समस्त मल; आशयः—अपने हृदय में; अवदातः—नितान्त शुद्ध; अपि—यद्यपि; मान-वर्धनः—केवल सम्मान देने के लिए; महताम्—बड़ों को; महीतलम्—भौतिक संसार पर; अनुशास—राज्य किया।

भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए महाराज प्रियव्रत सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहने लगे, किन्तु उन्हें सदैव भगवान् के उन चरणकमलों का ध्यान बना रहा जो समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्ति दिलाने वाले हैं। यद्यपि महाराज प्रियव्रत समस्त भौतिक कल्मषों से विमुक्त थे, किन्तु अपने बड़ों का मान रखने के लिए ही वे इस संसार पर शासन करने लगे।

तात्पर्य : मानवर्धनो महताम् (“अपने से श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना”) शब्दसमूह अत्यन्त सार्थक है। यद्यपि महाराज प्रियव्रत पहले से ही मुक्त पुरुष थे और भौतिक वस्तुओं के प्रति उनका कोई आकर्षण नहीं था, किन्तु ब्रह्माजी का मान रखने के लिए ही उन्होंने शासन-भार सँभालने में पूरा ध्यान दिया। अर्जुन ने भी ऐसा ही किया था। अर्जुन को राजनैतिक कार्यों में भाग लेने अथवा कुरुक्षेत्र में युद्ध करने में कोई अभिरुचि नहीं थी, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उन्हें वैसा करने का आदेश दिया, तो उन्होंने बड़े ही अच्छे ढंग से अपने कर्तव्य का पालन किया। जो नित्य ही भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरता है, वह इस संसार के समस्त कल्मषों से ऊपर रहता है। जैसाकि भगवद्गीता (६.४७) में कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“समस्त योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी दिव्य सेवा करता है, वह मुझसे परम अतरंग रूप में जुड़ा हुआ है और सबसे श्रेष्ठ है।” इसलिए महाराज प्रियव्रत मुक्त पुरुष एवं परम योगियों में से थे, फिर भी ब्रह्मा के आदेशानुसार वे बाह्य रूप से ब्रह्माण्ड के शासक बने। इस प्रकार अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन उनका एक और असाधारण गुण था। श्रीमद्भागवत (६.१७.२८) में कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनर्केष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

यदि भगवान् की आज्ञापालन का अवसर आता है, तो वास्तविक रूप से बड़ा-चढ़ा भक्त किसी प्रकार भयभीत नहीं होता। मुक्त पुरुष होते हुए भी प्रियव्रत द्वारा सांसारिक कार्यों में निरत होने का यही

कारण है। इसी सिद्धान्त के कारण एक महाभागवत, जिसका इस संसार से कोई सरोकार नहीं होता, भक्ति के द्वितीय स्तर पर उतर कर विश्व भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देता है।

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्याम् ह वाव
आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम ॥
२४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; च—भी; दुहितरम्—पुत्री को; प्रजापतेः—प्रजापतियों में से एक की; विश्वकर्मणः—विश्वकर्मा नामक; उपयेमे—ब्याह लिया; बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती को; नाम—नाम; तस्याम्—उसमें; उ ह—जैसाकि प्रसिद्ध है; वाव—आश्चर्यजनक; आत्म-जान्—पुत्रों को; आत्म-समान—अपने ही सदृश्य; शील—चरित्र; गुण—गुण; कर्म—कार्य; रूप—सुन्दरता; वीर्य—बल; उदारान्—जिसकी उदारता; दश—दस; भावयाम् बभूव—उसके उत्पन्न हुई; कन्याम्—कन्या; च—भी; यवीयसीम्—सबसे छोटी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नाम की।

तदनन्तर महाराज प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की कन्या बर्हिष्मती से विवाह किया। उससे उन्हें दस पुत्र प्राप्त हुए जो सुन्दरता, चरित्र, उदारता तथा अन्य गुणों में उन्हीं के समान थे। उनके एक पुत्री भी हुई जो सबसे छोटी थी। उसका नाम ऊर्जस्वती था।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्मा का आदेश पालन करके के लिए न केवल राज्यभार स्वीकार किया, वरन् प्रजापतियों में से एक, प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह भी किया। चूँकि महाराज प्रियव्रत दिव्य ज्ञान में निष्णात् थे, अतः वे चाहते तो घर लौटकर ब्रह्मचारी रहते हुए शासन-भार सँभालते, किन्तु गृहस्थाश्रम में आकर उन्होंने पत्नी भी स्वीकार की। नियम यह है कि जो गृहस्थ बन जाता है उसे उस आश्रम में पूर्णरूप से रहना चाहिए जिसका अर्थ है कि वह अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ शान्तिपूर्वक रहे। जब चैतन्य महाप्रभु की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया, तो उनकी माँ ने दूसरा ब्याह करने का अनुरोध किया। उस समय उनकी आयु बीस वर्ष की थी और चौबीस वर्ष की आयु में वे संन्यास ग्रहण करने जा रहे थे, तो भी अपनी माँ के अनुरोध पर उन्होंने विवाह कर लिया। उन्होंने अपनी माँ से कहा, “जब तक मैं गृहस्थाश्रम में हूँ, मेरी पत्नी होनी चाहिए, क्योंकि गृहस्थ जीवन का अर्थ घर में ही बने रहना नहीं होता। वास्तविक गृहस्थ जीवन का अर्थ है पत्नी के साथ घर में रहना।”

इस श्लोक के तीन शब्द—उ ह वाव—महत्त्व के हैं। इनका प्रयोग आश्चर्य प्रकट करने के लिए हुआ है। प्रियव्रत महाराज ने संन्यास का व्रत ले रखा था, किन्तु पत्नी स्वीकार करके पुत्र उत्पन्न करने से संन्यास-मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है—ये कार्य तो भोग मार्ग को बताते हैं। अतः यह विस्मय की

बात थी कि संन्यास मार्ग के अनुगामी प्रियव्रत महाराज ने अब भोग-मार्ग को स्वीकार कर लिया।

कभी-कभी मेरी आलोचना इसलिए की जाती है, क्योंकि संन्यासी होते हुए भी मैं अपने शिष्यों के विवाहोत्सवों में सम्मिलित हुआ हूँ। यहाँ पर बता दिया जाये कि चूँकि हमने कृष्णभावनामृत संघ प्रारम्भ किया है और मानव समाज में आदर्श विवाह सम्पन्न होने चाहिए, इसलिए आदर्श समाज की स्थापना के लिए हमें इसके कुछ सदस्यों के विवाह में भाग लेना ही चाहिए, भले ही हमने संन्यास क्यों न स्वीकार कर रखा हो। यह उन व्यक्तियों को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है जिनकी रुचि चारों सामाजिक आश्रमों तथा चारों आध्यात्मिक आश्रमों की दिव्य प्रणाली, जिसे दैव-वर्णाश्रम कहते हैं, स्थापित करने में नहीं है। तो भी श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दैव-वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना करनी चाही थी। दैव-वर्णाश्रम में 'जन्म से' सामाजिक स्तर नहीं स्वीकार किया जाता, क्योंकि भगवद्गीता में कहा गया है कि इसके निर्धारक तत्त्व गुण तथा कर्म हैं। कृष्णभावनामृत के लिए उपयुक्त समाज को बनाये रखने के उद्देश्य से इसी दैव-वर्णाश्रम की सारे विश्व में पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। मूर्ख आलोचकों के लिए यह आश्चर्यजनक हो सकता है, किन्तु कृष्णभावनामृत संघ के कार्यों में से यह एक है।

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व
एवाग्निनामानः. ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्र—आग्नीध्र; इध्म—जिह्व—इध्मजिह्व; यज्ञ—बाहु—यज्ञबाहु; महा—वीर—महावीर; हिरण्य—रेतः—हिरण्यरेता; घृतपृष्ठ—घृतपृष्ठ; सवन—सवन; मेधा—तिथि—मेधातिथि; वीतिहोत्र—वीतिहोत्र; कवयः—(तथा) कवि; इति—इस प्रकार; सर्वे—ये सभी; एव—निश्चय ही; अग्नि—अग्नि देवता के; नामानः—नाम।

महाराज प्रियव्रत के दस पुत्रों के नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। ये अग्निदेव के भी नाम हैं।

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः
पारमहंस्यमेवाश्रममभजन्. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनमें से; कविः—कवि; महावीरः—महावीर; सवनः—सवन; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; आसन्—थे; ऊर्ध्व-रेतसः—परम (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी; ते—वे; आत्म-विद्यायाम्—दिव्य ज्ञान में; अर्भ-भावात्—बचपन से; आरभ्य—प्रारम्भ

करके; कृत-परिचया:—अत्यधिक परिचित; पारमहंस्यम्—मानव जीवन की उच्चतम सिद्धि का; एव—निश्चय ही; आश्रमम्—आश्रम; अभजन्—पालन किया।

इन दस पुत्रों में से तीन—कवि, महावीर तथा सवन—पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। इस प्रकार बालपन से ब्रह्मचर्य जीवन की शिक्षा प्राप्त करने के कारण वे सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् परमहंस आश्रम से पूर्णतया परिचित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत ऊर्ध्व-रेतसः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे ऐसे पुरुष का बोध होता है, जो विषयी जीवन पर विजय प्राप्त करके अपने वीर्य को स्वलित नहीं होने देता वरन् इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु को शरीर में संचित करके अपने मस्तिष्क को उर्वर बनाता है। जो पुरुष विषयी जीवन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है, वह अपने मस्तिष्क से आश्चर्यजनक काम ले सकता है, विशेषकर उसकी स्मरण शक्ति अपूर्व हो जाती है। इस प्रकार से विद्यार्थी अपने गुरु से वैदिक उपदेशों को एक बार सुनकर उन्हें अक्षरशः स्मरण रख सकते थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द अर्भ-भावात् है, जिसका अर्थ है “बालपन से ही।” इसका दूसरा भी अर्थ है—“बच्चों को अत्यधिक प्रिय होने के कारण।” दूसरे शब्दों में, परमहंस का जीवन दूसरों के लाभ के लिए समर्पित रहता है। जिस प्रकार से पिता अपने पुत्र प्रेम के कारण अनेक वस्तुओं का त्याग करता है उसी प्रकार से साधु पुरुष समाज-हित के लिए समस्त शारीरिक सुखों का परित्याग कर देते हैं। इस प्रसंग में छः गोस्वामियों से सम्बन्धित एक श्लोक है—

त्यक्त्या तूर्णमशेष-मंडल-पति-श्रेणीं सदा तुच्छवत्।

भूत्वा दीन-गणेशकौ करुणया कौपीन-कंठाश्रितौ ॥

दीन पतित आत्माओं के प्रति दयाभाव के कारण छः गोस्वामियों ने अपने मंत्रिपद को त्याग कर याचक बनने का व्रत लिया। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव करके एक कौपीन तथा एक कमंडलु धारण किया। इस प्रकार वे वैष्णव साहित्य का संग्रह और प्रकाशन करके श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए वृन्दावन में रहे।

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः. ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस परमहंस आश्रम में; उ—निश्चय ही; ह—इतना प्रसिद्ध; वा—निश्चय ही; उपशम-शीला:—संन्यास आश्रम में; परम-ऋषयः—महान् ऋषि; सकल—समस्त; जीव—जीवात्माओं का; निकाय—समूह; आवासस्य—निवास का; भगवतः—भगवान्; वासुदेवस्य—भगवान् वासुदेव का; भीतानाम्—जो भौतिक अस्तित्व के कारण भयभीत हैं, उनका; शरण-भूतस्य—जो एकमात्र शरण है; श्रीमत्—भगवान् का; चरण-अरविन्द—चरणकमल; अविरत—निरन्तर; स्मरण—स्मरण; अविगलित—निष्कलुषित; परम—परम; भक्ति-योग—भक्ति का; अनुभावेन—बल से; परिभाषित—शुद्धीकृत, विमल; अन्तः—भीतरी; हृदय—हृदय; अधिगते—देखा हुआ; भगवति—भगवान्; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—भूतात्माओं में से; आत्म-भूते—शरीर के भीतर स्थित; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; आत्मनि—परम-आत्मा में; एव—निश्चय ही; आत्मनः—अपना; तादात्म्यम्—गुण में एक समान; अविशेषण—बिना अन्तर के; समीयुः—साक्षात्कार किया।

जीवन प्रारम्भ से ही संन्यास आश्रम में रहकर ये तीनों अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करते हुए महान सन्त हो गये। उन्होंने अपने मन को उन भगवान् के चरणकमलों में सदैव केन्द्रित रखा, जो समस्त जीवात्माओं के विश्रामस्थल (आश्रय) हैं और वासुदेव नाम से विख्यात हैं। जो भव-स्थिति से भयभीत हैं उनके लिए भगवान् वासुदेव ही एकमात्र शरण हैं। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धारण करने के कारण महाराज प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र शुद्ध भक्ति से सिद्ध बन गये। वे अपनी भक्ति के बल से परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में निवास करने वाले भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके और इसका अनुभव कर सके कि उनमें तथा भगवान् में, गुण के अनुसार, कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : संन्यासी जीवन में परमहंस अवस्था सर्वोच्च है। संन्यास की चार अवस्थाएँ होती हैं—कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य तथा परमहंस। वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने पर गाँव के बाहर कुटी में रहना होता है और भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ घर से भेजी जाती हैं। यह कुटीचक अवस्था है। जब संन्यासी और आगे बढ़ता है, तो वह घर की कोई वस्तु स्वीकार नहीं करता, वरन् वह अपना भोजन आदि आवश्यक पदार्थ कई स्थानों से एकत्र करता है। यह प्रणाली माधुकरी कहलाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ है “भौरों की वृत्ति।” जिस प्रकार भौर थोड़ा-थोड़ा करके अनेक पुष्पों से मधु संचित करते हैं उसी प्रकार से संन्यासी को द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगनी चाहिए और प्रत्येक घर से थोड़ा ही ग्रहण करना चाहिए। यह बहूदक अवस्था कहलाती है। अधिक अनुभवी होने पर संन्यासी भगवान् वासुदेव की महिमा का उपदेश देने के लिए विश्वभर का भ्रमण करता है। तब वह परिव्राजकाचार्य कहलाता है। संन्यासी को परमहंस अवस्था तब प्राप्त होती है, जब वह अपना उपदेश-कार्य समाप्त करके अध्यात्म जीवन बिताने के उद्देश्य से एक स्थान पर

टिक जाता है। सच्चा परमहंस वह है, जो अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखता है और ईश्वर की शुद्ध सेवा में लगा रहता है। अतः प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र प्रारम्भ से ही परमहंस अवस्था को प्राप्त थे। ईश्वर की सेवा में तल्लीन रहने के कारण उनकी इन्द्रियाँ उन्हें विचलित नहीं कर सकती थीं। इसीलिए तीनों भाइयों को इस श्लोक में *उपशमशीलाः* कहा गया है। *उपशम* का अर्थ है “पूर्णतः दमित।” चूँकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्णतः दमित कर लिया था इसलिए वे महान् साधु तथा ऋषि माने जाते हैं।

इन्द्रियों को दमित करने के अनन्तर तीनों भाइयों ने अपना मन वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगा दिया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेवः सर्वम् इति*—अर्थात् वासुदेव के चरणकमल ही सर्वस्व हैं। भगवान् वासुदेव समस्त जीवात्माओं के आगार हैं। जब इस विराट जगत का लय हो जाता है, तो समस्त जीवात्मनाएँ गर्भोदकशायी विष्णु की परम देह में प्रविष्ट होती हैं, जो महाविष्णु में लीन हो जाते हैं। ये दोनों विष्णुतत्त्व वासुदेव तत्त्व ही हैं; इसीलिए कवि, महावीर तथा सवन—ये तीनों भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में सदैव ध्यानस्थ रहे। इस प्रकार वे वह समझ सके कि हृदय में स्थित परम आत्मा भगवान् ही है और वे अपने स्वरूप को उनमें पा सके। इसका आशय यह है कि केवल शुद्ध भक्ति से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस श्लोक में वर्णित *परम-भक्ति-योग* का यह भावार्थ है कि अमिश्रित (अनन्य) भक्ति के बल पर जीवात्मा के लिए ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं रहता, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*वासुदेवः सर्वम् इति*)। *परम-भक्ति-योग* से मनुष्य स्वतः देहात्मबुद्धि से उबर सकता है और भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सिद्ध योगी, जिसे *सत्* या साधु कहते हैं सदा अपने हृदय में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण स्वयं को स्वांशों द्वारा विस्तार देते हैं और इस तरह भक्त अपने हृदय में निरन्तर उनका दर्शन पा सकता है।

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नूत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्यस्याम्—अन्य; अपि—भी; जायायाम्—स्त्री से; त्रयः—तीन; पुत्राः—पुत्र; आसन्—थे; उत्तमः तामसः रैवतः—उत्तम, तामस तथा रैवत; इति—इस प्रकार; मनु-अन्तर—मन्वन्तर कल्प के; अधिपतयः—शासक।

महाराज प्रियव्रत की दूसरी पत्नी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्तम, तामस तथा रैवत थे। बाद में इन्होंने मन्वन्तर कल्पों का भार सँभाला।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में १४ मन्वन्तर होते हैं। एक मनु का जीवन काल अर्थात् एक मन्वन्तर की अवधि ७१ युग है और प्रत्येक युग में ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इन मन्वन्तरों पर शासन करने वाले प्रायः समस्त मनु महाराज प्रियव्रत के वंशज ही रहे। इनमें से तीन—उत्तम, तामस तथा रैवत—का विशेष उल्लेख हुआ है।

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश
परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो
बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकुरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः
पराभूयमानविवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उपशम-अयनेषु—सभी सुयोग्य; स्व-तनयेषु—अपने पुत्रों में से; अथ—तत्पश्चात्; जगती-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; जगतीम्—ब्रह्माण्ड को; अर्बुदानि—अर्बुद (१०,००,००,००० की संख्या); एकादश—ग्यारह; परिवत्सराणाम्—वर्षों का; व्याहृत—बिना रोकटोक के; अखिल—विश्वव्यापी; पुरुष-कार—शौर्य; सार—शक्ति; सम्भृत—प्रदत्त; दोः-दण्डः—बलिष्ठ भुजाओं वाले; युगल—दो; आपीडित—खींची गई; मौर्वी-गुण—धनुष की डोरी; स्तनित—टंकार से; विरमित—पराजित; धर्म—धार्मिक नियम; प्रतिपक्षः—विपक्षी; बर्हिष्मत्याः—अपनी पत्नी बर्हिष्मती का; च—तथा; अनुदिनम्—प्रतिदिन; एधमान—वर्धमान; प्रमोद—मनोरंजन; प्रसरण—सुशीलता, सौजन्य; यौषिण्य—स्त्रियोचित व्यवहार; व्रीडा—लज्जा से; प्रमुषित—संकुचित; हास—हँसी, हास्य; अवलोक—चितवन; रुचिर—मनोहर; क्ष्वेलि-आदिभिः—विनोद इत्यादि; पराभूयमान—पराजित होकर; विवेकः—अपने वास्तविक ज्ञान; इव—सदृश; अनवबुध्यमानः—विवेकहीन व्यक्ति; इव—सदृश; महा-मनाः—महान् आत्मा; बुभुजे—राज्य किया, भोगा।

इस प्रकार से कवि, महावीर तथा सवन के परमहंस अवस्था में भलीभाँति प्रशिक्षित हो जाने पर महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक ब्रह्माण्ड पर शासन किया। जिस समय वे अपनी बलशाली भुजाओं से धनुष की डोरी खींच कर तीर चढ़ा लेते थे उस समय धार्मिक जीवन के नियमों को न मानने वाले उनके विपक्षी विश्वपर शासन करने के उनके अद्वितीय शौर्य से डर कर न जाने कहाँ भाग जाते थे। वे अपनी पत्नी बर्हिष्मती को अगाध प्यार करते थे और समय बीतने के साथ ही उनका प्रणय भी बढ़ता गया। अपनी स्त्रियोचित वेशभूषा, उठने-बैठने, हँसी तथा

चितवन से महारानी बर्हिष्मती उन्हें शक्ति प्रदान करती थी। इस प्रकार महात्मा होते हुए भी वे अपनी पत्नी के स्त्री-उचित व्यवहार में खो गये। वे उसके साथ सामान्य पुरुष-सा आचरण करते, किन्तु वे वास्तव में महान् आत्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्म-प्रतिपक्ष*: धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी से किसी विशेष धर्म का नहीं वरन् वर्णाश्रम धर्म का संकेत मिलता है। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने एवं नागरिकों को जीवन-लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान की ओर क्रमशः अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन किया जाये। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वर्णाश्रम धर्म के पालन में महाराज प्रियव्रत इतने कठोर थे कि इसकी उपेक्षा करने वाले युद्ध के लिए ललकारे जाने या दंडित किये जाने की चेतावनी पर राजा से दूर भागते फिरते थे। दरअसल महाराज प्रियव्रत को अपने दृढ़ संकल्प के कारण लड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी; उनके विपक्षी वर्णाश्रम धर्म के नियमों का उल्लंघन करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे। कहा गया है जो मानव समाज वर्णाश्रम धर्म द्वारा चालित नहीं है, वह बिल्लियों तथा कुत्तों के पशु-समाज से बढ़कर नहीं है। अतः महाराज प्रियव्रत ने अपने असाधारण तथा अद्वितीय शौर्य से वर्णाश्रम धर्म को दृढ़ बनाये रखा।

इस प्रकार का कठोर जागरूक जीवन बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी पत्नी से प्रोत्साहन की आवश्यकता पड़ती है। वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में, ब्राह्मण तथा संन्यासियों को स्त्रियों से किसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु क्षत्रियों तथा गृहस्थों को अपने कर्तव्य-पालन के लिए अपनी पत्नियों से प्रोत्साहन लेने की आवश्यकता रहती है। वास्तविकता तो यह है कि कोई गृहस्थ या क्षत्रिय अपनी पत्नी के सहयोग के बिना अपना दायित्व अच्छी तरह से निभा ही नहीं सकता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ रहना चाहिए। क्षत्रियों को राज-काज चलाने में प्रोत्साहित किए जाने के लिए कई पत्नियाँ रखने की छूट थी। कर्म तथा राजनैतिक कार्य के जीवन में योग्य पत्नी का साहचर्य अनिवार्य है। अतः सुचारु रूप से कर्तव्य पालने के लिए महाराज प्रियव्रत ने अपनी सुन्दर पत्नी बर्हिष्मती का लाभ उठाया, क्योंकि वह स्त्रियोचित वेशभूषा, मुस्कान तथा अपने नारी सुलभ शारीरिक हाव-भावों से अपने महान् पति को प्रसन्न रखने में दक्ष थी। वह महाराज प्रियव्रत को प्रोत्साहित करती रहती जिससे वे उचित रीति से

शासन करते थे। इस श्लोक में इव शब्द का दो बार प्रयोग यह बताने के लिए किया गया है कि महाराज प्रियव्रत स्त्री-दास के रूप में आचरण करते हुए ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कि वे मानवोचित विवेक खो बैठे हों। किन्तु वास्तव में वे अपने महात्मा पद के प्रति भिन्न थे, यद्यपि ऊपर से वे कर्मी पति का-सा आचरण कर रहे थे। इसप्रकार महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक राज्य किया। एक अर्बुद दस करोड़ (१०,००,००,०००) वर्ष के तुल्य होता है।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद्द्वितीय इव पतङ्गः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अवभासयति—प्रकाश देता है; सुर-गिरिम्—सुमेरु पर्वत की; अनुपरिक्रामन्—परिक्रमा करते हुए; भगवान्—परम शक्तिमान; आदित्यः—सूर्यदेव; वसुधा-तलम्—अधोलोक पर; अर्धेन—आधे से; एव—निश्चय ही; प्रतपति—तप्त करता है; अर्धेन—आधे से; अवच्छादयति—अँधेरे से ढके रहता है, अँधेरा करता है; तदा—उस समय; हि—निश्चय ही; भगवत्-उपासना—भगवान् की उपासना द्वारा; उपचित—उन्हें पूरी तरह प्रसन्न करके; अति-पुरुष—परम पुरुष; प्रभावः—प्रभाव; तत्—वह; अनभिनन्दन्—बिना प्रशंसा किये; समजवेन—समान बलशाली के द्वारा; रथेन—रथ पर; ज्योतिः-मयेन—ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्; रजनीम्—रात्रि को; अपि—भी; दिनम्—दिन; करिष्यामि—बना दूँगा; इति—इस प्रकार; सप्त-कृत्—सात बार; वस्तरणिम्—सूर्य की कक्ष्या का अनुगमन करते हुए; अनुपर्यक्रामत्—परिक्रमा करते हुए; द्वितीयः—दूसरा; इव—सदृश; पतङ्गः—सूर्य।

इस प्रकार सुचारु रूप से राज्य करते हुए राजा प्रियव्रत एक बार परम बलशाली सूर्यदेव की परिक्रमा से असन्तुष्ट हो गये। सूर्यदेव अपने रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हुए समस्त लोकों को प्रकाशित करते हैं, किन्तु जब सूर्य उत्तर दिशा में रहता है, तो दक्षिण भाग को कम प्रकाश मिलता है और जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है, तो उत्तर भाग को कम प्रकाश मिलता है। राजा प्रियव्रत को यह स्थिति नहीं भायी इसलिए उन्होंने संकल्प किया कि ब्रह्माण्ड के उस भाग में जहाँ रात्रि है, वहाँ वे दिन कर देंगे। उन्होंने एक प्रकाशमान रथ पर चढ़कर सूर्यदेव की कक्ष्या का पीछा करके अपनी इच्छा पूर्ण की। वे ऐसे विस्मयजनक कार्यकलाप इसीलिए कर पाये, क्योंकि उन्होंने भगवान् की उपासना के द्वारा शौर्य अर्जित किया था।

तात्पर्य : बँगला में एक कहावत है कि वह इतना बलवान है कि चाहे, तो रात को दिन और दिन को रात कर दे। यह कहावत प्रियव्रत के शौर्य के कारण ही प्रचलित है। उनके कार्यों से यह पता चलता है कि भगवान् की उपासना से वे कितने शक्तिशाली हो गये थे। भगवान् कृष्ण को योगेश्वर कहा

गया है *भगवद्गीता* (१८.७८) में कहा गया है कि जहाँ जहाँ योगेश्वर रहते हैं वहाँ वहाँ विजय, धन तथा ऐश्वर्य रहते हैं (*यत्र योगेश्वरः कृष्णः*) । भक्ति इतनी बलशाली होती है। जब भक्त की मनोकामना पूर्ण होती है, तो वह उसकी निजी शक्ति से नहीं, वरन् शक्ति के स्वामी (योगेश्वर कृष्ण) के अनुग्रह से होती है। उनके अनुग्रह से भक्त को ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनकी बड़े से बड़े वैज्ञानिक कल्पना तक नहीं कर सकते।

इस श्लोक के वर्णन से ऐसा लगता है कि सूर्य घूमता है। आधुनिक ज्योतिर्विदों के अनुसार सूर्य एक स्थान पर स्थिर है और सौर मण्डल से घिरा हुआ है, किन्तु यहाँ हम पाते हैं कि सूर्य स्थिर नहीं हैं, वह अपनी नियत कक्ष्या में चक्कर लगा रहा है। इस कथन की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.५२) से होती है— *यस्याज्ञया भ्रमति संभृत-काल-चक्रः*—सूर्य भगवान् की आज्ञा के अनुसार स्थिर कक्ष्या में घूमता है। वैदिक साहित्य के नक्षत्र-विज्ञान अथवा ज्योतिर्वेद के अनुसार सूर्य छः मास तक सुमेरु पर्वत के उत्तर में और छः मास दक्षिण में घूमता रहता है। इस ग्रह (पृथ्वी) में यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब उत्तर में ग्रीष्म ऋतु होती है, तो दक्षिण में शीत ऋतु रहती है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी होता है। कभी-कभी आधुनिक विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने सूर्य के सारे अवयवों का पता लगा लिया है, किन्तु फिर भी वे प्रियव्रत के समान दूसरा सूर्य प्रदान नहीं कर सकते।

यद्यपि प्रियव्रत महाराजने सूर्य के समान एक तेजस्वी रथ का आविष्कार कर लिया था, किन्तु उनकी इच्छा सूर्यदेव से प्रतिस्पर्धा करने की नहीं थी क्योंकि एक वैष्णव दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता। उनका उद्देश्य अधिकाधिक भौतिक लाभ प्रदान करना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि महाराज प्रियव्रत के तेजस्वी सूर्य की किरणें अप्रैल तथा मई के महीनों में चन्द्रमा के समान सुहावनी थीं जबकि अक्टूबर तथा नवम्बर में प्रातः तथा सायंकाल इस सूर्य से सूर्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाराज प्रियव्रत अत्यन्त बलशाली थे और उनके कार्यों (चरित्र) से उनका शौर्य चातुर्दिक फैल गया था।

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ये—वे; वा उ ह—निश्चय ही; तत्—रथ—उस रथ के; चरण—पहियों की; नेमि—परिधि से; कृत—बने हुए; परिखाता:—खाइयाँ (गड्डे); ते—वे; सप्त—सात; सिन्धवः—सागर; आसन्—हो गये; यतः—जिसके कारण; एव—निश्चय ही; कृताः—बने हुये; सप्त—सात; भुवः—भूमण्डल के; द्वीपाः—द्वीप।

जब प्रियव्रत ने अपना रथ सूर्य के पीछे हाँका, तो उनके रथ के पहियों की परिधि से जो चिह्न बन गये वे ही बाद में सात समुद्र हो गये और भूमण्डल सात द्वीपों में विभाजित हो गया।

तात्पर्य : कभी-कभी अन्तरिक्ष लोकों को द्वीप कहा जाता है। हम सागरों में विभिन्न प्रकार के द्वीपों से परिचित हैं। इसी प्रकार से चौदह लोक भी आकाश रूपी सागर के द्वीप हैं। सूर्य के पीछे रथ हाँकते हुए प्रियव्रत ने सात विभिन्न सागरों तथा लोकों की सृष्टि की जिन्हें मिलाकर भूमण्डल या भूलोक कहा जाता है। गायत्री मंत्र में हम ॐ भूर् भुवः स्वः तत् सवितुर् वरेण्यम्—जप करते हैं। भूलोक के ऊपर भुवर्लोक है और उससे भी ऊपर स्वर्गलोक है। इन सबों का नियंत्रण सविता (सूर्यदेव) द्वारा किया जाता है। प्रातःकाल उठने के पश्चात् गायत्री मंत्र का जाप करने से सूर्यदेव की आराधना की जाती है।

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासङ्ख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्रिप्ताः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जम्बू—जम्बू; प्लक्ष—प्लक्ष; शाल्मलि—शाल्मलि; कुश—कुश; क्रौञ्च—क्रौंच; शाक—शाक; पुष्कर—पुष्कर; संज्ञाः—जाने जाते हैं; तेषाम्—उनमें से; परिमाणम्—परिमाण; पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्—अपने से पूर्व वाले से; उत्तरः उत्तरः—बाद वाले; यथा—क्रमानुसार; सङ्ख्यम्—संख्या; द्वि-गुण—दो गुना; मानेन—माप से; बहिः—बाहर; समन्ततः—चारों ओर; उपक्रिप्ताः—उत्पन्न किया।

(सात) द्वीपों के नाम हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर। प्रत्येक द्वीप अपने से पहले वाले द्वीप से आकार में दुगुना है और एक तरल पदार्थ से घिरा है, जिसके आगे दूसरा द्वीप है।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक के सागर का तरल पदार्थ भिन्न प्रकार का है। वे किस प्रकार स्थित हैं इसका विस्तृत विवरण अगले श्लोक में हुआ है।

क्षारोदेशुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा
इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्व सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित उपकल्पितास्तेषु
जम्बूदिषु

बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान्यथासङ्ख्येनै
कैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्षार—लवण, खारे; उद—जल; इक्षु—रस—गन्ने का रस; उद—जल; सुरा—मदिरा; उद—जल; घृत—घी; उद—जल; क्षीर—
दुग्ध; उद—जल; दधि—मण्ड—मट्टा; उद—जल; शुद्ध—उदा:—तथा पेय जल; सप्त—सात; जल-धयः—सागर; सप्त—सात;
द्वीप—द्वीप; परिखा:—खाइयाँ; इव—सदृश्य; अभ्यन्तर—भीतरी; द्वीप—द्वीप; समानाः—के तुल्य; एक-एकश्येन—एक के
बाद दूसरा; यथा-अनुपूर्वम्—क्रमानुसार; सप्तसु—सात; अपि—यद्यपि; बहिः—बाह्य; द्वीपेषु—द्वीपों में; पृथक्—अलग;
परितः—चारों ओर; उपकल्पिताः—स्थित; तेषु—उनमें से; जम्बू-आदिषु—जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीप; बर्हिष्मती—बर्हिष्मती का;
पतिः—पति; अनुव्रतान्—जो पिता के नियमों का पालन करने वाले थे; आत्म-जान्—पुत्रों को; आग्नीध्र-इध्मजिह्व-यज्ञबाहु-
हिरण्यरेतः-घृतपृष्ठ-मेधातिथि-वीतिहोत्र-संज्ञान्—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि, वीतिहोत्र नाम
वाले; यथा-सङ्ख्येन—क्रमानुसार; एक-एकस्मिन्—प्रत्येक द्वीप में; एकम्—एक; एव—निश्चय ही; अधि-पतिम्—राजा;
विदधे—बना दिया।

ये सातों समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, सुरा, घृत, दुग्ध, मट्टा तथा मीठे पेय जल से
पूर्ण हैं। सभी द्वीप इन सागरों से पूर्णतया घिरे हैं और प्रत्येक समुद्र घिरे हुए द्वीप के समान चौड़ा
है। रानी बर्हिष्मती के पति महाराज प्रियव्रत ने इन द्वीपों का एकक्षत्र राज्य अपने पुत्रों को दे दिया
जिनके नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि तथा वीतिहोत्र
थे। इस प्रकार अपने पिता के आदेश से ये सभी राजा बन गये।

तात्पर्य : यहाँ यह समझने की बात है कि प्रत्येक द्वीप भिन्न प्रकार के सागर से घिरा है और यहाँ
कहा गया है कि प्रत्येक सागर की चौड़ाई उस द्वीप के समान है, जिसे वह घेरता है। किन्तु सागरों की
लम्बाई द्वीपों की लम्बाई के तुल्य नहीं हो सकती। वीर राघव आचार्य के अनुसार प्रथम द्वीप की
चौड़ाई एक लाख योजन है। एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अतः प्रथम द्वीप की चौड़ाई
आठ लाख मील हुई। इस द्वीप को घेरने वाले जल की चौड़ाई भले ही इतनी ही हो, किन्तु उसकी
लम्बाई को भिन्न होना चाहिए।

दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद्देवयानी नाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

दुहितरम्—पुत्री; च—भी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नामक; उशनसे—महर्षि उशना (शुक्राचार्य) को; प्रायच्छत्—दे
दिया; यस्याम्—जिससे; आसीत्—थी (उत्पन्न हुई); देवयानी—देवयानी; नाम—नामक; काव्य-सुता—शुक्राचार्य की पुत्री।

उसके बाद राजा प्रियव्रत ने अपनी पुत्र ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से कर दिया,
जिसके गर्भ से देवयानी नामक पुत्री उत्पन्न हुई।

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
 पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
 चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
 यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एवम्—विधः—इस प्रकार; पुरुष-कारः—अपना प्रभाव; उरु-क्रमस्य—भगवान् का; पुंसाम्—भक्तों का; तत्-
 अङ्घ्रि—उनके चरणारविन्द की; रजसा—धूलि से; जित-षट्-गुणानाम्—जिन्होंने छः प्रकार के विकारों को जीत लिया है;
 चित्रम्—विस्मयजनक; विदूर-विगतः—अस्पृश्य, पंचम वर्ण का व्यक्ति; सकृत्—एक बार; आददीत—यदि उच्चारण करे तो;
 यत्—जिसका; नामधेयम्—पवित्र नाम; अधुना—तुरन्त; सः—वह; जहाति—त्याग देता है; बन्धम्—भौतिक बन्धन।

हे राजन्, जिस भक्त ने भगवान् के चरणारविन्दों की धूलि में शरण ली है, वह षड् विकारों अर्थात् भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु के प्रभाव तथा मन समेत छहों इन्द्रियों को जीत सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं क्योंकि चारों वर्णों से बाहर का व्यक्ति अर्थात् अस्पृश्य व्यक्ति भी भगवान् के नाम का एक बार उचार कर लेने मात्र से भौतिक बन्धनों से तुरन्त छूट जाता है।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से राजा प्रियव्रत के चरित्र का उल्लेख कर रहे थे और चूँकि राजा को इन आश्चर्यजनक असाधारण कार्यकलापों के प्रति सन्देह हुआ होगा इसलिए उन्होंने यह कह कर उन्हें फिर विश्वास दिलाया कि हे राजन्! प्रियव्रत के चरित्र पर सन्देह मत करो। भगवान् के भक्त के लिए सब कुछ सम्भव है, क्योंकि ईश्वर को “उरुक्रम” भी कहा गया है। उरुक्रम वामनदेव का नाम है, जिन्होंने अपने तीन पगों से सारी पृथ्वी नाप कर एक अद्भुत कार्य किया था। उन्होंने महाराज बलि से तीन पग भूमि माँगी और जब वे ऐसा करने के लिए राजी हो गये, तो उन्होंने सम्पूर्ण जगत को अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरा पग महाराज बलि के सिर पर रख दिया। श्री जयदेव गोस्वामी कहते हैं—

छलयसि विक्रमणे बलिम् अद्भुत-वामन

पद-नख-नीर-जनित-जन-पावन

केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे।

“ भगवान् केशव की जय हो, जिन्होंने वामन रूप धारण किया। हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! आप भक्तों के अमंगल को हर लेते हैं? हे अद्भुत वामनदेव! आपने अपने पगों से महान् असुर बलि महाराज को छला। जब आपने अपने चरणकमल भूमण्डल में गड़ा दिये, तो उस समय आपके नखों में जो जल

लग गया वह गंगा नदी के रूप में समस्त जीवात्माओं को पवित्र करता है।”

चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतः वे ऐसे कार्य कर सकते हैं, जो सामान्य व्यक्ति को अद्भुत लगे। इसी प्रकार से भगवान् के चरणारविन्द की शरण लेने वाला भक्त चरण-रज के प्रभाव से एक से एक अद्भुत कार्य कर सकता है, जो सामान्य मनुष्य के लिए अकल्पनीय है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु हमें भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का उपदेश देते हैं—

अयि नन्द-तनुज किंकरं

पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पाद-पंकज-

स्थित-धूली-सदृशं विचिन्तय ॥

“हे नन्द महाराज के पुत्र! मैं आपका चिरन्तन दास हूँ फिर भी मैं न जाने किस तरह इस जन्म-मरण के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस सागर से उठाकर अपने चरणकमल की धूलि (कण) बना लें।” भगवान् चैतन्य हमें भगवान् के चरणकमलों की धूलि के सम्पर्क में आने की शिक्षा देते हैं क्योंकि तब हमें निस्सन्देह सभी प्रकार की सफलता मिल जायेगी।

भौतिक देह के कारण प्रत्येक जीवात्मा इस जगत में भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन षड् विकारों से सदैव विक्षुब्ध रहता है। अन्य षड् विकार हैं—मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पवित्र भक्त का क्या कहना अस्पृश्य चण्डाल तक ईश्वर का एक बार भी स्मरण करने पर भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है। कभी-कभी ब्राह्मण जाति के लोग यह तर्क करते हैं कि जब तक देह न बदल जाये कोई किस प्रकार ब्राह्मण हो सकता है, क्योंकि यह देह पूर्वकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, अतः जो पूर्वजन्म में ब्राह्मण का आचरण कर चुका है, वही ब्राह्मण परिवार में देह धारण कर सकता है। अतः उनका अभिमत है कि बिना ब्राह्मण देह के किसी को ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि *विदूरविगत* भी, जो पंचम अस्पृश्य जाति का चण्डाल होता है, भगवान् का एक बार भी पवित्र नाम लेने पर मुक्त हो जाता है। मुक्त होने का अर्थ है तुरन्त ही उसका शरीर बदल जाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी ने की है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसविधानतः।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

जब कोई व्यक्ति, भले ही वह चांडाल ही क्यों न हो, शुद्ध भक्त द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की दीक्षा पाता है, तो उसका शरीर बदल जाता है, क्योंकि वह अपने गुरु के उपदेशों का पालन करता है। यद्यपि कोई यह नहीं देख पाता कि शरीर किस प्रकार बदला है, किन्तु हमें शास्त्रों के वचनों को प्रामाणिक मानकर ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा बिना तर्क किये समझना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कथन है—*स जहाति बन्धम्*—वह अपने भौतिक बन्धन त्याग देता है। यह देह मनुष्य के कर्म के अनुसार भौतिक बन्धन का प्रतीक है। यद्यपि हमें कभी-कभी स्थूल देह बदलती हुई नहीं दिखती, किन्तु परमेश्वर के नाम-जप से सूक्ष्म शरीर तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त भौतिक बन्धन से मुक्त हो जाता है। अन्ततः स्थूल देह में होने वाले परिवर्तन सूक्ष्म देह द्वारा ही संचालित होते हैं। इस स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर सूक्ष्म देह जीवात्मा को एक दूसरे स्थूल देह में ले जाती है। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान होता है, अतः यदि किसी का मन ईश्वर के चरणारविन्द में अथवा कार्यों के स्मरण में सदा आसक्त रहता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपने वर्तमान देह को पहले ही बदल दिया है और वह पवित्र हो चुका है। अतः यह अकाट्य है कि प्रामाणिक दीक्षा के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण बन सकता है।

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं
मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज प्रियव्रत); एवम्—इस प्रकार; अपरिमित—अद्वितीय; बल—शक्ति; पराक्रमः—जिसका प्रभाव; एकदा—एक बार; तु—तब; देव-ऋषि—महामुनि नारद के; चरण-अनुशयन—चरणकमलों में समर्पण; अनु—तत्पश्चात्; पतित—गिरा हुआ; गुण-विसर्ग—विषयों के (तीन गुणों से उत्पन्न); संसर्गेण—सम्पर्क होने से; अनिर्वृतम्—असंतुष्ट; इव—सदृश; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म—स्वयं; निर्वेदः—त्यागमय; इदम्—यह; आह—कहा।

इस प्रकार अपने पूर्ण पराक्रम तथा प्रभाव से भौतिक ऐश्वर्य का भोग करते हुए महाराज प्रियव्रत एक बार यह सोचने लगे कि यद्यपि मैं महामुनि नारद के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था और वास्तव में कृष्णभावनामृत के मार्ग पर था, किन्तु मैं अब न जाने क्यों फिर से भौतिक कार्यों के बन्धन में फँस गया हूँ। इस प्रकार उनका मन अशान्त हो उठा। वे विरक्त होकर बोलने

लगे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (१.५.१७) में कहा गया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

“जिसने ईश्वर की सेवा करने के लिए अपना भौतिक कर्म छोड़ दिया है, वह अपरिपक्व अवस्था में रहने पर कभी-कभी गिर सकता है, किन्तु तो भी उसके असफल होने का कोई डर नहीं रहता। दूसरी ओर यदि कोई अभक्त अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों में पूरी तरह संलग्न रहे, तो भी उसे कुछ नहीं प्राप्त होता।” यदि कोई किसी भी तरह किसी महान् वैष्णव की शरण में जाता है और भावनावश या बोध होने के कारण कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में अपरिपक्व बोध के कारण यदि वह नीचे गिर जाता है, तो वह वास्तव में गिरा हुआ नहीं कहा जाता, क्योंकि कृष्णभावनामृत में लगे रहना एक प्रकार से स्थायी सम्पत्ति है। अतः यदि कोई नीचे गिरता है भी तो कुछ काल के लिए उसकी उन्नति रुक सकती है, किन्तु उपयुक्त अवसर आने पर वह फिर अवश्य दिखाई पड़ेगी। यद्यपि महाराज प्रियव्रत नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सेवा कर रहे थे, किन्तु अपने पिता की प्रार्थना पर वे भौतिक विषयों में पुनः लौट आये। कालान्तर में उनमें अपने गुरु नारद के अनुग्रह से श्रीकृष्ण की सेवा करने की भावना पुनः जगी।

जैसाकि भगवद्गीता (६.४१) में कहा गया है—शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते— भक्तियोग से च्युत पुरुष को पुनः देवताओं का ऐश्वर्य प्राप्त होता है और उसका उपभोग कर लेने के पश्चात् उसे शुद्ध ब्राह्मण अथवा धनी परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपनी कृष्णभक्ति को पुनः जाग्रत कर सके। प्रियव्रत के जीवन में ऐसा ही हुआ। इस सत्य के वे ज्वलन्त उदाहरण हैं। कालक्रम से जब उन्हें अपनी सम्पत्ति, पत्नी, राज्य तथा पुत्रों के भोग की कामना नहीं रह गई, तो उन्होंने सबको त्याग देना चाहा। अतः इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज प्रियव्रत के ऐश्वर्य का वर्णन कर चुकने के बाद उनकी विराग-प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं।

देवर्षि-चरणानुशयन शब्दों से यह सूचित होता है कि महाराज प्रियव्रत पूर्णतया देवर्षि नारद की शरण में जाकर उनके निर्देश से भक्ति की समस्त क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का कठोरता से पालन कर रहे थे। जहाँ तक अनुष्ठानों के दृढ़तापूर्वक पालन का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—*दण्डवत्-प्रणामास्तान् अनुपतितः*—गुरु को तुरन्त दण्डवत् प्रणाम करने तथा उसके आदेशों का पालन करने से विद्यार्थी उन्नति करता है। महाराज प्रियव्रत ये सारे कार्य नियमित रूप से कर रहे थे।

जब तक मनुष्य इस संसार में है, वह प्रकृति के तीन गुणों (*गुण-विसर्ग*) के वशीभूत रहता है। ऐसा नहीं है कि ऐश्वर्यवान होने के कारण प्रियव्रत भौतिक प्रभाव से मुक्त थे। इस संसार में अत्यन्त निर्धन पुरुष तथा अत्यन्त धनी पुरुष, दोनों ही, भौतिकता के वश में रहते हैं क्योंकि वैभव तथा दरिद्रता दोनों ही प्रकृति के भौतिक गुणों से उद्भूत हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैकमाणि सर्वशः*—हमारे द्वारा अपनाए गए प्रकृति के गुणों के अनुसार प्रकृति हमें भौतिक भोग की सुविधा प्रदान करती है।

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयां चकार. ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; असाधु—अच्छा नहीं; अनुष्ठितम्—हुआ; यत्—क्योंकि; अभिनिवेशितः—पूर्णतया निमग्न; अहम्—मैं; इन्द्रियैः—इन्द्रिय-भोग के लिए; अविद्या—अज्ञान से; रचित—बनाया हुआ; विषम—दुखदायी; विषय—इन्द्रियभोग; अन्ध-कूपे—अंधेरे कुएँ में; तत्—वह; अलम्—तुच्छ; अलम्—महत्त्वहीन या अधम का; अमुष्याः—उस; वनितायाः—पत्नी का; विनोद-मृगम्—नाचते हुए बन्दर की तरह; माम्—मुझको; धिक्—धिक्कार है; धिक्—धिक्कार है; इति—इस प्रकार; गर्हयाम्—आलोचना; चकार—की।

राजा ने अपनी भर्त्सना इस प्रकार की—ओह! इन्द्रिय-भोग के कारण मैं कितना धिक्कारा जाने योग्य हो गया हूँ। मैं अब भौतिक सुख के अंधकूप में गिर गया हूँ। बहुत हुआ! अब मुझे और भोग नहीं चाहिए। तनिक मेरी ओर देखो—मैं कैसे अपनी पत्नी के हाथों में नाचने वाला बन्दर बन गया हूँ। इसलिए मुझे धिक्कार है।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के आचरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भौतिक ज्ञान की उन्नति कितनी निन्दनीय है। उन्होंने एक दूसरा सूर्य उत्पन्न करने जैसा अद्भुत कार्य किया जो रात के

समय प्रकाशमान था। उन्होंने ऐसा विशाल रथ तैयार कराया था जिसके पहियों की रगड़ से विशाल समुद्र बन गये थे। ये कार्य इतने महान् हैं कि आज का वैज्ञानिक यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ऐसे कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं। महाराज प्रियव्रत ने भौतिक क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत कार्य किये, किन्तु चूँकि वह इन्द्रियभोग अर्थात् राज्य के शासन तथा सुन्दर पत्नी के इशारों पर नाच रहे थे, इसलिए इन्होंने अपने आपको धिक्कारा। जब हम महाराज प्रियव्रत के इस उदाहरण पर विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि भौतिक प्रगति की आधुनिक सभ्यता कितनी पतित है। आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक तथा अन्य भौतिकतावादी यह सोच कर अत्यधिक संतुष्ट हैं कि वे बड़े-बड़े पुल, सड़कें तथा मशीनें बना सकते हैं, किन्तु महाराज प्रियव्रत की तुलना में ये सारे कार्य नगण्य हैं। यदि इतने अद्भुत कार्यों के बावजूद महाराज प्रियव्रत अपने को धिक्कार सकते थे, तो हम भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में कितने अधम और निन्दनीय हैं! इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस भौतिक जगत में फँसी हुई जीवात्माओं की समस्याओं को ऐसी उन्नति से कोई सरोकार नहीं है। दुर्भाग्यवश आज का मनुष्य अपने बंधन और निन्दनीय स्थिति को नहीं समझ सकता है और उसे यह भी पता नहीं है कि अगले जन्म में उसे किस प्रकार का शरीर धारण करना होगा। महान् राज्य, सुन्दर पत्नी तथा अद्भुत भौतिक कार्यकलाप—ये सभी आत्मसिद्धि में बाधक हैं। महाराज प्रियव्रत ने अत्यन्त निष्ठा के साथ महामुनि नारद की सेवा की थी, अतः भौतिक ऐश्वर्य स्वीकार कर लेने पर भी वे कर्म से विचलित नहीं हुए। वे पुनः कृष्णभक्त बन गये। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

“कृष्णभावनामृत के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न हास। इस पथ में की गई थोड़ी भी सेवा भी बड़े से बड़े संकट से बचाने के लिए पर्याप्त है।” महाराज प्रियव्रत के जैसा संन्यास श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है। सामान्य रूप से जब मनुष्य शक्तिमान होते हैं या उनके सुन्दर पत्नी, सुन्दर घर तथा भौतिक ऐश्वर्य होते हैं, तो वे अधिकाधिक फँसते जाते हैं। किन्तु महाराज प्रियव्रत ने देवर्षि नारद से शिक्षा प्राप्त की थी इसलिए तमाम बाधाओं के होते हुए भी वे अपने भीतर कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित कर सके।

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शोनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सह महाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पर-देवता—भगवान् के; प्रसाद—अनुग्रह से; अधिगत—प्राप्त किया; आत्म-प्रत्यवमर्शोन—आत्म-साक्षात्कार से; अनुप्रवृत्तेभ्यः—जो उसके पथ का सही सही अनुसरण करता है; पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों को; इमाम्—यह पृथ्वी; यथा-दायम्—उत्तराधिकार के अनुसार; विभज्य—बाँटकर; भुक्त-भोगाम्—जिसका भोग अनेक प्रकार से किया; च—भी; महिषीम्—रानी; मृतकम् इव—मृत शरीर की भाँति; सह—सहित; महा-विभूतिम्—परम ऐश्वर्य; अपहाय—त्याग कर; स्वयम्—स्वयं; निहित—पूर्णतया ग्रहण किया हुआ; निर्वेदः—त्याग; हृदि—हृदय में; गृहीत—स्वीकार किया; हरि—भगवान् की; विहार—लीलाएँ; अनुभावः—ऐसे भाव में; भगवतः—परम साधु पुरुष का; नारदस्य—नारद मुनि का; पदवीम्—पद; पुनः—फिर; एव—निश्चय ही; अनुससार—अनुसरण करने लगा।

भगवान् के अनुग्रह से महाराज प्रियव्रत का विवेक पुनः जाग्रत हो उठा। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने आज्ञाकारी पुत्रों में बाँट दी। अपनी पत्नी को जिसके साथ उन्होंने इन्द्रियसुख भोगा था और प्रभूत ऐश्वर्यशाली राज्य सहित सब कुछ त्याग कर वे सभी प्रकार की आसक्ति से रहित हो गये। विमल हो जाने से उनका हृदय भगवान् की लीलाओं का स्थल बन गया। इस प्रकार वे कृष्णभावनामृत के पथ पर पुनः लौट आये और महामुनि नारद के अनुग्रह से जिस पद को प्राप्त किया था उसको फिर से धारण किया।

तात्पर्य : अपने शिक्षाष्टक में श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि—चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं—हृदय के स्वच्छ होते ही संसार की प्रज्वलित अग्नि तुरन्त शमित हो जाती है। हमारे हृदय भगवान् की लीलाओं के लिए हैं। इसका तात्पर्य यह कि जैसा भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया है (मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु) मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का चिन्तन करे। यही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। जिस पुरुष का हृदय स्वच्छ नहीं होता वह भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बन्ध में सोच भी नहीं पाता, किन्तु यदि वह भगवान् का फिर से ध्यान धरे, तो सांसारिक आसक्ति से सरलतापूर्वक विरक्त हो सकता है। मायावादी दार्शनिक, योगी तथा ज्ञानी इस भौतिक संसार को केवल यह कह कर कि ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—अर्थात् यह संसार असत्य है, वृथा है, अतः हमें ब्रह्म को ग्रहण करना चाहिए—इस संसार को त्यागने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का कोरा सिद्धान्त लाभप्रद नहीं होगा। यदि हमें यह विश्वास हो कि ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है, तो हमें अपने हृदयों में श्रीकृष्ण के चरणकमलों को धारण करना चाहिए जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया

(स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः) । मनुष्य को अपने हृदय में ईश्वर के चरणारविन्द धारण करने होते हैं; तभी उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है ।

महाराज प्रियव्रत ने अपना ऐश्वर्यशाली साम्राज्य तथा अपनी सुन्दर पत्नी की संगति को उसे मृतक तुल्य मान कर छोड़ दिया । किसी की पत्नी कितनी ही सुन्दर तथा आकर्षक क्यों न हो, किन्तु मृत होने पर उसके प्रति कोई मोह नहीं रह जाता । हम सुन्दर स्त्री की प्रशंसा उसके शरीर के कारण करते हैं, किन्तु आत्मा के निकल जाने पर वह शरीर किसी कामी पुरुष को आकर्षक नहीं लगता । महाराज प्रियव्रत भगवत्-अनुग्रह से इतने बलवान थे कि उन्होंने अपनी जीवित पत्नी को मृतक तुल्य मान कर उसकी संगति को छोड़ दिया । श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है :-

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

“हे सर्वशक्तिमान! न तो मुझे धन संग्रह करने की कामना है, न सुन्दर स्त्रियों की, न ही मुझे अनुयायियों की आवश्यकता है । मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ ।” जो आत्म-जीवन में अग्रसर होना चाहता है उसके मार्ग में ऐश्वर्य तथा सुन्दर पत्नी के प्रति आसक्ति—ये दो बड़ी बाधाएँ हैं । इन आसक्तियों की भर्त्सना आत्महत्या से भी अधिक करनी चाहिए । अतः भौतिक अज्ञान को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को नारी और धन की आसक्ति को छोड़ देना चाहिए । इन आसक्तियों से विमुक्त होने के बाद ही महाराज प्रियव्रत महामुनि नारद द्वारा उपदिष्ट नियमों का पालन कर सके ।

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।

यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घनसप्त वारिधीन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; ह वा—निश्चय ही; एते—ये सब; श्लोकाः—श्लोक; प्रियव्रत—राजा प्रियव्रत द्वारा; कृतम्—किये हुए; कर्म—कर्म; कः—कौन; नु—तब; कुर्यात्—कर सकता है; विना—बिना; ईश्वरम्—श्रीभगवान्; यः—जिसने; नेमि—अपने रथ के पहियों की परिधि के; निम्नैः—पहियों के दाब से; अकरोत्—कर दिया; छायाम्—अंधकार; घन—दूर करते हुए; सप्त—सात; वारिधीन्—समुद्रों को ।

महाराज प्रियव्रत के कर्मों से सम्बन्धित अनेक श्लोक प्रसिद्ध हैं—“जो कुछ महाराज

प्रियव्रत ने किया उसे भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। उन्होंने रात्रि के अंधकार को दूर किया और अपने रथ के पहियों की नेमी से सात समुद्र बना दिये।”

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के कार्यों के सम्बन्ध में संसार भर में अनेक उत्तम श्लोक प्रचलित हैं। वे इतने विख्यात हैं कि उनके कार्यों की तुलना भगवान् के कार्यों से की जाती है। कभी-कभी ईश्वर का परमनिष्ठ दास तथा भक्त भी भगवान् कहलाता है। श्रीनारद को भगवान् कहा जाता है और कभी-कभी शिव तथा व्यासदेव भी भगवान् कहे जाते हैं। कभी-कभी ईश्वर के अनुग्रह से शुद्ध भक्त को भी भगवान् की पदवी प्रदान की जाती है, जिससे वह अत्यन्त सम्मानित हो सके। महाराज प्रियव्रत ऐसे ही भक्त थे।

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः ।

सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

भू-संस्थानम्—पृथ्वी की स्थिति; कृतम्—बनी; येन—जिसके द्वारा; सरिद्—नदियों से; गिरि—पर्वतों से; वन-आदिभिः—वन आदि से; सीमा—सीमा रेखाएँ; च—भी; भूत—विभिन्न राष्ट्रों का; निर्वृत्यै—लड़ाई रोकने के लिए; द्वीपे द्वीपे—विभिन्न द्वीपों में; विभागशः—पृथक्-पृथक्।

“विभिन्न लोगों में पारस्परिक झगड़ों को रोकने के लिए महाराज प्रियव्रत ने नदियों, पर्वतों के किनारों तथा वनों के द्वारा राज्यों की सीमाएँ निर्धारित कीं, जिससे कोई एक दूसरे की सम्पत्ति में घुस न सके।”

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने विभिन्न राज्यों की सीमाएँ अंकित करने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आज भी पाला जाता है। जैसाकि यहाँ इंगित किया गया है, विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भागों में रहते हैं, अतः उन भागों की, जिन्हें यहाँ द्वीप कहा गया है, सीमाएँ विभिन्न नदियों, वनों तथा पर्वतों द्वारा सुनिश्चित कर दी जानी चाहिए। महाराज पृथु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है। वे महामुनियों की योजनाओं से अपने पिता के मृत शरीर से उत्पन्न हुए थे। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी था। इसलिए उसके मृत शरीर से सर्वप्रथम निषाद नामक एक श्याम पुरुष उत्पन्न हुआ। निषाद जाति को वन में रहने के लिए स्थान मिला, क्योंकि वे जन्म से चोर तथा उचक्रे होते हैं। जिस प्रकार पशुओं को विभिन्न जंगलों तथा पहाड़ियों में रखा जाता है उसी प्रकार से जो भी मनुष्य पशु की भाँति होते हैं उन्हें भी वहीं रहना होता है। जब तक कृष्णभावना नहीं जगती, कोई भी मनुष्य सभ्य जीवन

नहीं बिता सकता, क्योंकि वह अपने कर्म तथा प्रकृतिक गुणों के प्रभाव के कारण किसी विशेष अवस्था में रहने के लिए बाध्य है। यदि मनुष्य मेल-मिलाप तथा शांति से रहना चाहते हैं, तो उन्हें कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि देहात्मबुद्धि से वे उच्चतम मानदण्ड को कभी भी नहीं प्राप्त हो सकते। महाराज प्रियव्रत ने इस भूमण्डल को अनेक द्वीपों में इसलिए विभाजित कर दिया जिससे प्रत्येक वर्ग के लोग शान्तिपूर्वक रह सकें और एक दूसरे से तकरार न हो। राष्ट्रवाद की आधुनिक संकल्पना महाराज प्रियव्रत द्वारा किये गये विभागों से ही धीरे-धीरे विकसित हुई है।

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भौमम्—अधोलोक के; दिव्यम्—स्वर्ग के; मानुषम्—मनुष्यों के; च—भी; महित्वम्—समस्त ऐश्वर्य; कर्म—कर्म द्वारा; योग—योग द्वारा; जम्—उत्पन्न; यः—जिसने; चक्रे—किया; निरय—नरक से; औपम्यम्—उपमा अथवा समानता; पुरुष—भगवान् के; अनुजन—भक्त को; प्रियः—अत्यन्त प्यारा।

“नारद मुनि के महान् अनुयायी तथा भक्त महाराज प्रियव्रत ने अपने सकाम कर्मों तथा योग से प्राप्त किये गये समस्त ऐश्वर्य को, चाहे वह स्वर्गलोक, अधोलोक अथवा मानव समाज का हो, नरक तुल्य समझा।”

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भक्त का पद इतना श्रेष्ठतम होता है कि उसे किसी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। पृथ्वी, स्वर्गलोक तथा पाताल लोक में नाना प्राकर के ऐश्वर्य हैं, किन्तु भक्त यह जानता है कि ये सभी भौतिक हैं, अतः उनमें उसकी कोई रुचि नहीं होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*। कभी-कभी योगी तथा ज्ञानी स्वेच्छा से मुक्ति के लिए तप करने तथा दिव्य आनन्द का स्वाद चखने के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग करते हैं। तो भी वे प्रायः नीचे आ गिरते हैं, क्योंकि यह भौतिक सम्पत्ति का कृत्रिम त्याग है। मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति उत्तम रुचि होनी चाहिए, तभी वह भौतिक सम्पत्ति को छोड़ पाता है। महाराज प्रियव्रत को आध्यात्मिक आनन्द का पूर्व अनुभव था, इसलिए उन्हें स्वर्गलोक, मर्त्यलोक या पाताललोक में प्राप्त किसी प्रकार के भौतिक सुख के प्रति कोई रुचि नहीं थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “महाराज प्रियव्रत का चरित्र” नामक पहले अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।